# क्रम

अपने सुहृद्
एल० पी० जैक्स को

पहला व्याख्यान

# तुलनात्मक धर्म[1]

मैं मैन्चेस्टर कालेज और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अधिकारियों का अत्यधिक आभारी हूं कि उन्होंने मुझे इस व्याख्यान-माला में भाषण देने का सुअवसर प्रदान किया है जिसमें धर्म के दर्शन पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाएगा। यह उचित ही है कि इस विषय का अध्ययन इस महान विद्यापीठ में किया जाए, जहां पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसकी आधारशिला रखी गई थी।

१

## तुलनात्मक धर्म-विज्ञान की उन्नति

तुलनात्मक धर्म-विज्ञान का विकास मुख्यतया दो कारणों से हुआ है: 'सैक्रिड बुक्स ऑफ द ईस्ट' (प्राच्य धर्मग्रंथ) का प्रकाशन और अध्ययन तथा मानवविज्ञान का विकास। इन दोनों ही को प्रेरणा देने का श्रेय ऑक्सफोर्ड के महान अध्यापकों को है। भारतीय आर्य-धर्मों के निर्भीक अन्वेषक फ्रेड्रिक मैक्समूलर ने इस विषय पर अपने व्याख्यानों द्वारा और प्राच्य धर्म-पुस्तकों का पचास खंडों में प्रकाशन करके तुलनात्मक धर्म को एक प्रबल गति प्रदान की। मैक्समूलर ने धर्म-विज्ञान पर दिए गए इन व्याख्यानों को 'संसार के प्रमुख धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की एक

१. यह व्याख्यान मैन्चेस्टर कालेज, ऑक्सफोर्ड, में तुलनात्मक धर्म पर दी गई व्याख्यानमाला का पहला व्याख्यान है, जो २२ अक्तूबर, १९२९ को दिया गया था।

भूमिका' नाम दिया है।[1] उनके इस महान कार्य को इस कालेज के डाक्टर एस्टलिन कारपेण्टर ने अपने धैर्ययुक्त और विद्वत्तापूर्ण अन्वेषणों द्वारा, विशेष रूप से भारतीय ईश्वरवाद और बौद्धधर्म तथा ईसाईधर्म के मध्य सम्बन्धों के विषय में अन्वेषणों द्वारा, आगे जारी रखा; और जब तक हम ज्ञान की इस शाखा का विकास करते जाएंगे, तब तक कारपेण्टर का नाम सच्ची कृतज्ञता के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

ऑक्सफोर्ड के एक और महान प्रोफेसर सर एडवर्ड टाइलर ने आदिम संस्कृति और मानवविज्ञान पर अपनी रचनाओं 'प्रिमिटिव कल्चर' और 'ऐन्थ्रोपोलॉजी' द्वारा मानवविज्ञान के दृष्टिकोण से धर्म के अध्ययन के लिए मार्ग खोल दिया। सर जेम्स फ्रेज़र की 'द गोल्डन बॉव्' तथा 'टोटेमिज़्म ऐण्ड एक्सोगैमी' ('सुनहली डाल', 'गणचिह्नवाद और गोत्रेतर विवाह') जैसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं ने धर्म के उद्गमों और विकास के अध्ययन के लिए बड़ी मात्रा में अमूल्य सामग्री प्रस्तुत कर दी। यहां उन अनेक मानवविज्ञानविदों की रचनाओं का उल्लेख करना अनावश्यक है, जिनके द्वारा किए गए असभ्य और आदिम जातियों के विश्वासों और उनकी प्रथाओं के अध्ययन से विश्व के गुप्त उद्देश्य को समझने के लिए मनुष्य द्वारा किए गए प्रारम्भिक प्रयत्नों पर भरपूर प्रकाश पड़ा है। यह जानकर और भी प्रसन्नता होती है कि इस विश्वविद्यालय में जिस मानवविज्ञान के अध्ययन का आरम्भ सर एडवर्ड टाइलर ने किया था, आजकल उसका प्रतिनिधित्व डाक्टर मैरेट बहुत योग्यतापूर्वक कर रहे हैं।

विकास के सिद्धान्त ने मानवविज्ञान की उन्नति को, और इस प्रकार परोक्षरूप से तुलनात्मक धर्म को प्रोत्साहन दिया। मानवविज्ञान इस बात को प्रकट करता है कि सामान्य गति अपरिष्कृत और कम जटिल अवस्थाओं से अधिक परिष्कृत और विकसित स्वरूपों की ओर प्रगति के रूप में हो रही है। इसकी दृष्टि में धर्म मानवीय संस्कृति का एक दौर है, जिसपर वे

१. 'इण्ट्रोडक्शन टु द साइंस ऑफ रिलिजन' (नया मुद्रण, १९०९), पृष्ठ ७।

सब नियम लागू होते हैं, जो अन्य सामाजिक संस्थाओं पर लागू होते हैं।[1] तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की प्रगति में जिन अन्य कारणों का बड़ा हाथ है, उनमें असीरिया, बेबीलोनिया और मिस्र के मूल ग्रन्थों की लिपि को ठीक-ठीक पढ़ लिए जाने का भी उल्लेख किया जा सकता है। इसी प्रकार विदेशों में गए ईसाई-धर्मप्रचारकों का कार्य भी कम नहीं रहा। उन्होंने निम्नतर कबीलों और आदिम समाजों के धार्मिक विश्वासों और आचारों के सम्बन्ध में सावधान और साधिकार विवरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत किए हैं।

## २

## इस अध्ययन पर तथाकथित आक्षेप

परन्तु जब हम तुलनात्मक धर्म की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि यह कोई एक विशेष प्रकार का धर्म है; यह तो धर्म के सम्बन्ध में विचार करने की एक विशिष्ट पद्धति-भर है। तुलनात्मक पद्धति का उपयोग ज्ञान के विविध क्षेत्रों में, जैसे शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान और विधिज्ञान (कानून) में बड़ी स्पष्ट सफलता के साथ किया गया है। और हाल ही में एक फ्रांसीसी लेखक द्वारा तुलनात्मक दर्शन पर लिखी गई एक पुस्तक भी सामने आई है।[2] फिर भी, समय-समय पर धर्म के तुलनात्मक अध्ययन के विरुद्ध प्रतिवाद सुनाई पड़ते रहते हैं।

इसका एक कारण यह है कि धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन स्वयं धर्म के लिए एक संकट समझा जाता है। कारण यह है कि धर्म के वैज्ञानिक विद्यार्थी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सब धर्मों के सम्बन्ध में पूर्ण निर्लिप्तता और निष्पक्षता की भावना से विचार करे। उसके लिए कोई भी

१. देखिए, मैरेट : 'ऐन्थ्रोपोलॉजी' (१९१२), अध्याय १।
२. प्रोफेसर एम० पी० मैस्सों-ऊर्सेल।

एक धर्म उतना ही अच्छा है, जितना कि कोई अन्य; परन्तु धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनासक्त तटस्थता की भावना मनुष्य-जाति के बहुत बड़े भाग को भली नहीं लगती। यह कहा जाता है कि धर्म यदि पक्षपातपूर्ण और विशिष्टतावादी न हो, तो वह धर्म ही नहीं। प्राच्य धर्मपुस्तकों की पश्चिम की धर्मपुस्तकों से तुलना करना उस उत्साह और श्रद्धा की भावना की उपेक्षा करना है, जो प्रत्येक व्यक्ति में अपने धर्म के लिए होती है। इस आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि सत्य किसी भी धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचा है और इन मामलों में सच्चा वैज्ञानिक रुख रखने का परिणाम अन्ततोगत्वा लाभरूप में ही होगा, और वह इस प्रक्रिया में होनेवाली हानि की अपेक्षा अपरिमेय रूप से अधिक होगा। साथ ही, यह सम्भव है कि हम अद्वितीयता के अपने दावों को छोड़ बैठें, फिर भी जिस धर्म में हमारा पालन-पोषण हुआ है, उसके प्रति हमारे मन में एक विशेष अनुराग और आकर्षण रहेगा ही।

एक और आक्षेप यह है कि तुलना का अर्थ है मिलान करना; और यदि कोई एक धर्म दूसरे धर्म के समान है, तो फिर उत्कृष्टता और अद्वितीयता के दावों का क्या होगा? निस्सन्देह तुलनात्मक धर्म समानता और उसके साथ-साथ विभिन्नताओं के तथ्यों पर ध्यान देता है। परन्तु समानताओं को स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं है कि विभिन्नताएं नगण्य हैं। यदि हम किसी एक धर्म के लिए अन्य धर्मों से उत्कृष्ट होने का दावा करना ही चाहते हैं, तो भी यह आवश्यक है कि हम अन्य धर्मों के दावों और उनकी अन्तर्वस्तुओं को जानें और उनका मूल्यांकन करें।

फिर, यह कहा जाता है कि यदि तुलनात्मक धर्म हमें यह बताता है कि उच्चतर धर्मों में भी वे बातें पाई जाती हैं, जो निम्न और आदिम धर्मों में पाई जाती थीं, तो यह परिणाम निकालना ठीक होगा कि हमारे धार्मिक विश्वास हमें हीन बनानेवाले और बचकाने ढंग के हैं। उदाहरण के लिए कोन्स्टेण्टाइन का ईसाईमत में दीक्षित होना, जिसके फलस्वरूप ईसाइयत की विजय हुई, काफी लम्बे समय तक बिल्कुल सुनिश्चित नहीं था। वह

मित्र† और ईसा के मध्य काफी डावांडोल रहा, क्योंकि मित्र का धर्म और ईसाइयत, दोनों एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते थे। ईसा की भांति मित्र भी ईश्वर और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ था, जिसकी मुक्ति एक बलिदान द्वारा सुनिश्चित हुई थी। मित्रधर्म के अनुयायी एक नैतिक विधान में और भविष्यत्-जीवन में उतनी ही दृढ़ता से विश्वास करते थे, जितना कि ईसाई। टर्टुलियन, जिसने इन दोनों धर्मों की समानता का कारण शैतान की करतूतों को बताया था, मित्रधर्म वालों की रोटी और शराब के पवित्रीकरण की प्रथा से विशेषरूप से विचलित हुआ था। इतना ही नहीं, अनेक आदिम धर्मों में देवता की बलिदानपूर्ण मृत्यु के सम्बन्ध में विश्वास प्रचलित था और जब किसी कबीले का देवता कोई पशु होता था, तब श्रद्धालु भक्तों द्वारा दिव्य शरीर का प्रसाद-भोज शब्दशः और वास्तविक होता था। यह विश्वास किया जाता था कि उस पशु, उस वीर नायक अथवा उस देवता को खाने से भक्तों में उस देवता के उचित गुण आ जाते हैं। इस तरह बलिदान और प्रसाद-भोज की प्रथाओं का, जो ईसाइयत का मूल आधार हैं, मूल इस प्रकार के आदिम विश्वासों में ढूंढा जा सकता है। यहां केवल इतना कह देना काफी होगा कि उद्गम और महत्त्व के प्रश्नों में आपस में घपला कर देना तर्कोचित नहीं है। धार्मिक विचारों के ऐतिहासिक उद्गम की खोज उनके मूल्य के आलोचनात्मक निर्धारण से बिल्कुल भिन्न वस्तु है। इसके अलावा, पिछड़ी से पिछड़ी जातियों में भी ईश्वर के प्रति गम्भीर भावनाएं और अस्पष्ट लालसाएं मिलती हैं, जो भले ही कितनी ही विरूप क्यों न कर दी गई हों, परन्तु फिर भी उनका अस्तित्व है अवश्य। हमें अन्धकारपूर्ण स्थानों से भी आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त हो सकता है। तुलनात्मक धर्म यह मानता है कि हमारे सब धर्मों का कुछ न कुछ मूल्य है। मेरे लिए आपको, कम से कम इस कालेज में जो धर्म के सम्बन्ध में उन्मुक्त विचार-विमर्श की नीति का समर्थक है, यह बतलाना

---

† ईरानी सूर्यदेवता।—अनुवादक।

अनावश्यक है।

इसलिए जो लोग तुलनात्मक धर्म के अध्ययन के परिणामों से विक्षुब्ध होते हैं, वे भी अन्त में इस अध्ययन के परिश्रम के लिए इसका आभार मानेंगे। कारण यह है कि तुलनात्मक धर्म असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध कर देता है कि भले ही धार्मिक रूपों में अनगिनत परिवर्तन पाए जाते हैं, परन्तु स्वयं धर्म एक सार्वभौम तत्त्व है। दुनिया में सब ओर हमें कुछ कम या अधिक समान रूप से फैला हुआ विश्वास और कर्मकांड का एक ऐसा समूह दिखाई पड़ता है, जो प्रतीयमान विभिन्नताओं और व्यष्टि (अलग-अलग) रूपों के बावजूद कुछ मूलभूत तत्त्वों की दृष्टि से एक-दूसरे से मिला प्रतीत होता है। धर्म का निवास मनुष्य के मन में है; यह स्वयं मनुष्य के स्वभाव का एक अंग है। बाकी प्रत्येक वस्तु विलीन हो जा सकती है, परन्तु ईश्वर में विश्वास, जो संसार के सब धर्मों की चरम स्वीकृति है, शेष रह जाता है। धर्म चाहे कितने ही रूप क्यों न बदल ले, परन्तु वह तब तक बना रहेगा, जब तक कि मनुष्य, जो कुछ वह है—अर्थात् शक्ति और दुर्बलता का सम्मिश्रण—बना रहेगा। मानवविज्ञान के अध्ययन में प्रकट हुए धर्म की प्रारम्भिकतम अभिव्यक्तियों से इस बात की पुष्टि होती है। मानव-जाति की सामान्य सहमति की, मानवीय आत्माओं की उस सार्वभौम लालसा की, जिसे कि परमात्मा के अस्तित्व के प्रमाण के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है, तुलनात्मक धर्म द्वारा निकाले गए परिणामों से बड़े प्रभावशाली रूप में पुष्टि होती है। प्लेटो की पुस्तक 'लॉज़' में जब ऐथेन्स के अभ्यागत ने क्रीट के क्लीनियास से परमात्मा का अस्तित्व प्रमाणित करने को कहा, तब क्लीनियास ने दो युक्तियां प्रस्तुत की थीं : (१) विश्व की सुव्यवस्था और ऋतुओं की नियमितता, और (२) क्या यूनानी और क्या बर्बर (असभ्य), सब लोगों का समानरूप से विश्वास। ब्रह्म, याह्वेह अहुरमज़्दा, अल्लाह, इन सब विविध अभिव्यक्तियों के पीछे एक ही अभिप्राय, एक ही प्रयास और एक ही श्रद्धा विद्यमान है। सब धर्मों का जन्म मानवीय मन की पवित्र भूमि में होता है और सबको

जीवन एक उसी आत्मा से प्राप्त होता है। ये विभिन्न प्रणालियां उस आध्यात्मिक वास्तविकता के साथ परीक्षणात्मक समंजन (तालमेल) हैं, जो कुछ कम या अधिक सन्तोषजनक हैं। तुलनात्मक धर्म यह बताकर कि मानवीय आत्मा एक ही आध्यात्मिक वास्तविकता के प्रति लालायित रहती है और किसी न किसी रूप में वह वास्तविकता मानवीय आत्मा पर प्रभाव डालती है, विभिन्न धर्मों की समानताओं का कारण बतलाता है। इस प्रकार तुलनात्मक धर्म कट्टरता का समर्थन भले ही न करे, पर यह अविश्वास (नास्तिकता) को भी प्रश्रय नहीं देता।

## ३

## इस अध्ययन का महत्त्व

तुलनात्मक धर्म हमें बताता है कि सब धर्मों का कोई न कोई इतिहास रहा है और उनमें से कोई भी धर्म अन्तिम या पूर्ण नहीं है। धर्म एक गति है, एक विकास; और सब सच्चे विकासों में नूतन पुरातन के ऊपर टिका होता है। प्रत्येक धर्म में पुरातन के अवशेष विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, यदि हम धर्म के वर्तमान रूपों से सन्तुष्ट न हों, तो हम एक अन्य अपेक्षाकृत अच्छे रूप की प्रत्याशा कर सकते हैं। यदि धर्म के रूप दैवीय इच्छा की अन्तिम और भ्रमातीत अभिव्यक्तियां हों, तो हमें दासता, पुरुषों द्वारा स्त्रियों को अधीनस्थ बनाए रखने तथा अन्य अनेक बुराइयों को परमात्मा का कार्य स्वीकार कर लेना होगा। यदि हम स्पष्टभाषी हों, तो हम इस बात को स्वीकार कर लेंगे कि जिन देवताओं की हम पूजा करते थे, वे किसी भी प्रकार आदर्श नहीं थे।[१] प्रत्येक सोचे जा सकने योग्य अपराध और क्रूरता का आरोप इन देवताओं में किया गया, हालांकि इनसे उन

१. देखिए, बर्नार्ड शॉ : 'द ऐडवेंचर्स ऑफ द ब्लैक गर्ल इन हर सर्च फॉर गॉड', (१९३२)।

देवताओं के भक्तों द्वारा उनकी सोत्साह पूजा में कोई व्याघात नहीं पड़ा। यदि हम बालहत्या के सिद्धान्त के आधार पर–जिसके विषय में सन्देह प्रकट करना काफी हाल तक भी किसी भी व्यक्ति को अविश्वासी या नास्तिक घोषित करने का पर्याप्त कारण होता था–सोचें तो ईसाइयों का परमात्मा भी बहुत मानवीय नहीं था। इसलिए यह अनुभूति बड़ी सांत्वनाप्रद है कि धर्म की कोई भी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण और परम नहीं है। हो सकता है कि इस प्रकार के विश्वास द्वारा संसार को बुद्ध का या ईसा का अनुयायी न बनाया जा सके, परन्तु इसके द्वारा एक कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो जाता है और वह कार्य है धार्मिक मतभेदों की व्याख्या करने और उनमें परस्पर मेल बिठाने का और स्वयं धर्म को उस क्षय से बचाने का, जोकि वर्तमान प्रणालियों को ग्रस रहा है।

इसके अतिरिक्त अब तक तुलनात्मक धर्म निरन्तर कार्यशील रहा है, हालांकि यह एक शौकिया और अवैज्ञानिक ढंग से ही कार्य करता रहा है। बुद्धिमान लोग सदा से इस बात को समझते रहे हैं कि अनेक धर्म ऐसे हैं, जो अपने पृथक् विश्वासों और विधि-विधानों द्वारा, जिनका रूप-निर्धारण उनके अपने पृथक् परिवेशों के द्वारा हुआ था, मनुष्यों के जीवन को नियंत्रित करने का दावा करते रहे हैं। जब वैदिक आर्य द्रविड़ों और भारत की आदिम जातियों से मिले, तब तुलनाएं प्रारम्भ हुईं और आपेक्षिक गुणों पर विचार-विमर्श किया गया। प्राचीन यूनानी लोगों को अपने पास-पड़ोस में प्रचलित विभिन्न आचारों के सम्बन्ध में पर्याप्त रुचि थी और हिरोडोटस ने मिस्रवासियों, ईरानियों, सीथियावासियों तथा बर्बरता के छोर पर विद्यमान अन्य कबीलों के विश्वासों और रिवाजों के सम्बन्ध में हमारे लिए कुछ उक्तियां लिख छोड़ी हैं। शुरू-शुरू में ईसाइयत और यहूदी धर्म एक-दूसरे के मुकाबले में थे। टैसिटस और टायर के मैक्सिमस, कुछ गूढ़ ज्ञानी (ग्नोस्टिक) लोगों, ओरिगेन और क्लीमेण्ट, को अन्य धर्मों का ज्ञान था। यूरोप पर अरबों के आक्रमणों ने ईसाइयत को इस्लाम के सामने ला खड़ा किया। सम्राट अकबर और प्रत्येक धर्म के धर्मप्रचारक अपने-अपने ढंग से

तुलनात्मक धर्म के भाष्यकार थे।[1] इनमें से केवल कुछ मामलों में तुलनात्मक धर्म धर्ममण्डनशास्त्र (अपोलोजेटिक्स) की एक शाखा था और धर्ममंडक लोग इसका प्रयोग अपने-अपने धर्मों के पक्षपोषण के लिए किया करते थे। हाल ही में तुलनात्मक धर्म के अध्ययन में जो परिवर्तन हुआ है, उसके फलस्वरूप इसके अध्ययन की दिशा की भावना और जानकारी की सटीकता (यथार्थता), दोनों में समान रूप से परिवर्तन हो गया है। अब जो कुछ हमारे सामने आता है, वह प्रभाववादी चित्र-मात्र नहीं है, अपितु अपेक्षाकृत सही-सही जानकारी के ऊपर आधारित तुलनात्मक आकलन है।

४

## ईसाई-धर्मप्रचारक और भारतीय धर्म

इस बात को भारतीय धर्मों के प्रति भारत में ईसाई-धर्मप्रचारकों की मनोवृत्ति के नाजुक प्रश्न का हवाला देकर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यह रुख बहुत कुछ उसी ढंग से बदलता गया है, जिस ढंग से कि ब्रिटेन और भारत के बीच राजनीतिक सम्बन्ध बदलते गए हैं। ब्रिटेन और भारत के बीच राजनीतिक सम्बन्धों को मोटे तौर पर तीन अवस्थाओं में अलग-अलग पहचाना जा सकता है : (१) ईस्ट इंडिया कंपनी, (२) ब्रिटिश साम्राज्य, और (३) ब्रिटिश राष्ट्रमंडल। इनमें से पहली अवस्था में भारत केवल शोषण के लिए एक क्षेत्र था। उसके अपने कोई अधिकार नहीं थे और जॉन कम्पनी उसके प्रति आदर से व्यवहार करना भी आवश्यक नहीं समझती थी, फिर श्रद्धा का तो कहना ही क्या! उस काल के ईसाई-धर्म-प्रचारक इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि भारतीय धर्मों में भी कोई

१. देखिए, जे० ई० कारपेण्टर : 'कम्पैरेटिव रिलिजन' (तृतीय मुद्रण, १९२९), अध्याय १।

सशक्त अथवा मूल्यवान वस्तु है। उनकी दृष्टि में यहां के स्थानीय धर्म केवल अंधकार और त्रुटियों का पुंज-मात्र थे, जिनका कि उद्धार नहीं हो सका था। वे लोग मूर्तिपूजक धर्मों से अत्यधिक घृणा करते थे और उन्हें आमूलचूल उन्मूलित कर देना चाहते थे। मानव-मन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह यह समझता है कि उसका अपना देवता तो सारी पृथ्वी का ईश्वर है, और अन्य सब देवता मनुष्य के हाथों द्वारा बनाए गए धोखा-धड़ी-मात्र हैं। बिशप हेबर का प्रसिद्ध गीत मूर्तिपूजा के खंडन की इस भावना को बड़े अच्छे ढंग से प्रकट कर देता है।[1] उस समय न केवल ईसाईधर्म के

---

१. ग्रीनलैंड के हिमाच्छादित पर्वतों से लेकर
भारत के मूंगेवाले समुद्रतट तक,
जहां कि अफ्रीका के धूप में झिलमिलाते हुए झरने
अपनी सुनहली बालू पर नीचे की ओर बहते जाते हैं,
अनेक प्राचीन नदियों के तीर से,
अनेक ताड़-वृक्षों से भरे मैदानों से,
वे हमको पुकार रहे हैं कि जिससे
हम उनके देश को त्रुटियों की शृंखला से मुक्त कर सकें।

क्या हुआ कि मसालों की सुगन्ध से भरी हवाएं
मन्द-मन्द श्रीलंका के द्वीप के ऊपर से बहती हैं;
यद्यपि और सारी वस्तुएं आनन्ददायक हैं
परन्तु केवल मनुष्य असंस्कृत है!
अत्यन्त भरपूर दयालुता के कारण
परमात्मा के उपहार व्यर्थ बिखरे पड़े हैं,
मूर्तिपूजक अपनी अन्धता के कारण
काठ और पत्थर के सम्मुख सिर झुकाता है।

क्या हम लोग, जिनकी आत्माएं आलोकित हो चुकी हैं,
जो ज्ञान को लिए ऊंचाई पर खड़े हैं,
रात्रि के अंधकार में भटकनेवाले लोगों को
जीवन का दीप दिखाने से इन्कार कर सकते हैं?

सामान्य प्रचारक, अपितु उच्च बौद्धिक स्तर के अनेक ईसाई पुरुषों और स्त्रियों का भी यह विश्वास था कि ईसाइयत ही एकमात्र सच्चा धर्म है, और अन्य सब धर्म बिलकुल मिथ्या हैं।[1] इस उग्र प्रचार में केवल एक आवश्यक वस्तु, उदारता, का अभाव था।

१८५८ में भारतीय क्रांति के बाद—क्रांति आवश्यक थी—ब्रिटिश सरकार ने भारत का कार्यभार संभाल लिया और भारतीय जनता के कुछ अधिकारों और हितों को स्वीकार किया : परन्तु भारत एक पराश्रित राज्य बन गया, एक साध्य के निमित्त एक साधन; और ब्रिटेन के हित सर्वोपरि थे। फिर भी यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय की अपेक्षा सुधरी हुई दशा थी। इसी प्रकार इस दूसरी अवस्था के ईसाई-धर्मप्रचारकों ने आक्रमणात्मक प्रचार की व्यर्थता को अनुभव कर लिया और अब वे भारतीय धर्मों को अंधविश्वास का पुंज और विषमता का गर्त-मात्र बताकर उनकी उपेक्षा नहीं कर देते थे, अपितु अब वे मानते थे कि इन धर्मों में भी कुछ अच्छाइयां विद्यमान हैं। जो धार्मिक विकास चालीस शताब्दियों से भी अधिक समय तक बना रहा और जिसकी आध्यात्मिक उच्चता उस कोटि तक पहुंच गई कि वह अन्य धर्मों की श्रेष्ठ कृतियों से सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकती है, उसे यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि उसमें कोई ऐसा मूल्य नहीं है, जिसके कारण वह इतने दिन तक बचा रहा। अन्य धार्मिक प्रणालियों को इस रूप में माना जाने लगा कि वे तैयारी की अवस्था हैं, और ईसाइयत उनमें शिरोमणि और उनकी चरम परिणति है। जहां पहली प्रवृत्ति टर्टुलियन की भावना की याद दिलाती थी, जिसे विधर्मियों अथवा मूर्तिपूजकों में

---

मुक्ति, आहा मुक्ति,
यह आनन्दपूर्ण ध्वनि तब तक गूंजती रहे
जब तक कि दूर से दूर स्थित प्रत्येक राष्ट्र
मसीहा के नाम को जान न जाय।

१. तुलना कीजिए, मिल्टन का 'हीम ऑन द मार्निंग ऑफ क्राइस्ट्स नेटिविटी'। साथ ही देखिए, आर्नल्ड लुन : 'इज़ क्रिश्चिएनिटी ट्रू?' (१९३३), पृष्ठ ५९।

शैतान की कारस्तानी के सिवाय और कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, वहां यह दूसरी मनोवृत्ति वह थी, जिसे सेण्ट पॉल ऑरिगेन का समर्थन प्राप्त है और जो प्रत्येक दिशा में 'सुसमाचार' (गॉस्पेल) के लिए तैयारी के चिह्नों को स्वीकार करते थे । सेण्ट पॉल मूर्तिपूजकों को इस रूप में देखते थे कि 'वे भी परमात्मा की खोज कर रहे हैं, जिससे शायद वे उसे कभी पा सकें।' उनकी सब मनुष्यों के लिए सब कुछ होने की नीति अज्ञानपूर्ण अवसरवाद का परिणाम नहीं है। यही मनोवृत्ति चतुर्थ 'सुसमाचार' में, अनेक यूनानी पादरियों में, मध्ययुग के विचारकों में और ईसाई अध्यात्मवादियों में विद्यमान है। यह कहा गया है कि पुराने धर्मों में पाई जानेवाली प्रत्येक मूल्यवान वस्तु नये धर्मों में सुरक्षित है, क्योंकि ईसा पूर्ण करने के लिए आया था, विनाश करने के लिए नहीं। 'दि रिलिजस क्वेस्ट ऑफ इण्डिया' (भारत का धार्मिक अन्वेषण) की ग्रन्थमाला इस दूसरी अवस्था को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है। परन्तु इस सारी अवस्था में यह साम्राज्यवादी ध्वनि विद्यमान है कि ईसाइयत धार्मिक भावना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है; और यह कि यह मानव-जाति के लिए नैतिक मानदंड है, जबकि अन्य प्रत्येक धर्म की परख इसके द्वारा ही की जानी है।

१६१७ में महायुद्ध के वीच में—युद्ध आवश्यक था; ठंडी धातु कभी दूसरी धातु से नहीं मिलती; जब उसे आग में डाला जाता है, केवल तभी उसकी कठोरता द्रवित होती है—ब्रिटेन और भारत के मध्य सम्बन्धों की एक नई धारणा की घोषणा की गई और भारत को यह बताया गया कि वह स्वतन्त्र, स्वशासी राष्ट्रों के ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का एक सदस्य होगा, साम्राज्य के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए एक समकक्ष भागीदार। अब यह शोषण का प्रश्न–जैसाकि वह जॉन कम्पनी के दिनों में था–अथवा दूसरे पर शासन का प्रश्न नहीं रहा–जैसाकि वह साम्राज्य के दिनों में था–अपितु स्वतन्त्र साझीदारी का प्रश्न था। यह लक्ष्य अभी भी आदर्श के क्षेत्र में ही है और उपलब्ध सफलता के क्षेत्र में नहीं आया। युद्ध ईसाई धर्म के लिए एक महान परीक्षा का समय था, जिसमें ईसाईधर्म एक बहुत

बड़े पैमाने पर रक्तपात का समर्थन करता-सा प्रतीत होता रहा। आत्मग्लानि और आत्मालोचना की मनोदशा अधिक प्रबल हो गई और इस नये वातावरण ने अन्य धर्मों की भावना और मूल्य को समझने के लिए अधिक अवकाश प्रदान किया।

हमारे काल का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक तत्त्व विश्व का बढ़ता हुआ एकीकरण है। विज्ञान हमें निरन्तर एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ निकटता में ला रहा है और मानव-जाति को अद्‌भुत नये नमूनों में बुन रहा है। हम इस ग्रह (पृथ्वी) के एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक इंच-इंच को जानते हैं और हमारे संचार के साधन हमारे पूर्वजों की विचित्र से विचित्र कल्पनाओं को भी लांघ गए हैं। हम अनुभव करते हैं कि हमारे संसार से भिन्न अन्य संसार हैं, और हमारे विचार और धर्म से भिन्न अन्य विचारधाराएं और धर्म भी हैं। एक-दूसरे से विषम संस्कृतियां और धर्म एक-दूसरे के निकट ला पटके गए हैं और यह कठिन है कि हम उनकी सप्राणता की ओर से आंखें मींच लें। उदाहरण के लिए हिन्दूधर्म को लीजिए। अनेक शताब्दियों तक इसके जादू ने एशिया, मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व के एक विशाल भाग को मुग्ध किए रखा है। बौद्धधर्म, जैनधर्म और सिखधर्म के शाखा-प्रतानों समेत इसके अनुयायी करोड़ों लोग हैं। अनेक लड़ाकू धर्मों ने इसे कुचलने की चेष्टा की, परन्तु यह अब भी जहां का तहां विद्यमान है। अनेक प्राचीन और आधुनिक आलोचकों ने इसे मार डाला; इसकी मृत्यु का प्रमाणपत्र दे दिया और इसकी अन्त्येष्टि भी कर दी और फिर भी यह वहीं का वहीं है। ऐसे व्यक्ति, जोकि बौद्धिक दृष्टि से किसीसे कम नहीं हैं, जो नैतिक दृष्टि से गिरे हुए नहीं हैं, जो अपने निर्णयों में और सामान्य वस्तुओं को महत्त्व देने में सभ्य लोगों से भिन्न नहीं हैं, गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति, अपने-आपको हिन्दू होने का दोषी स्वीकार करते हैं।[1] ऐसा धर्म हमारे मन में

---

१. सर अल्फ्रेड लायल से तुलना कीजिए, जिन्होंने कहा था कि यद्यपि हिन्दूधर्म के मरण का विधान हो चुका है, फिर भी यह जीने के लिए कमर कसे है।

ग्लानि उत्पन्न नहीं कर सकता और न हमारी घृणा को ही जागरित कर सकता है। यह हमारी उत्सुकता को जगाता है। हम यह जानना चाहते हैं कि इसकी शक्ति के स्रोत और इसकी सप्राणता का उद्गम क्या है। इसकी ओर से अपनी आंखें मींच लेना शतुरमुर्ग की सी नीति है, जो कहीं भी पहुंचाती नहीं। यह आश्चर्य की बात नहीं कि जहां-तहां हमें ऐसे विचारशील धर्मप्रचारक दिखाई पड़ते हैं, परन्तु वे बहुत अधिक नहीं हैं, जो हमें बताते हैं कि भविष्य का धर्म मत-मतान्तरों के एक स्वतन्त्र साहचर्य के रूप में होगा, जिसमें सम्पर्क और विनिमय द्वारा प्रत्येक मत को एक नई आत्मा और नया जीवन प्राप्त होगा। इस नई मनोवृत्ति के मूल स्वर को 'भागीदारी' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। पूर्व और पश्चिम के विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों को अपने दिव्य दर्शनों और अन्तर्दृष्टियों, आशाओं और आशंकाओं, आयोजनाओं और लक्ष्यों में साझा कर लेना होगा। खेद की बात है कि राजनीतिक क्षेत्र की भांति इस क्षेत्र में भी यह अभी केवल एक महत्त्वाकांक्षा अधिक है और वास्तविकता कम। तुलनात्मक धर्म उन धर्मों के मध्य, जो अब असंसर्गदूषित विविक्तता या पृथक्ता में नहीं रह रहे, स्वतन्त्र भागीदारी के इस आदर्श को आगे बढ़ाने में हमारी सहायता करता है। वे धर्म अब विभिन्न परीक्षण समझे जाते हैं, जो एक स्वतन्त्र और सृजनशील सभ्यता को उत्पन्न करने के लिए एक-दूसरे पर प्रभाव डाल रहे हैं। वे सब के सब एक उच्चतर और स्थिरतर जीवन के निर्माण के लिए एक साझे प्रयत्न में जुटे हुए हैं। वे एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काम करनेवाले साथी कार्यकर्ता हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम आज उनके अनुयायियों से हाथ मिलाएं और स्वार्थ एवं मूर्खता, अन्याय एवं अधर्म की शक्तियों पर आक्रमण करें।[1]

---

१. 'लेमैन्स फॉरेन मिशन्स इन्क्वायरी' (सामान्य लोगों की विदेशी धर्मप्रचार-जांच) द्वारा नियुक्त मूल्यानुमान आयोग (ऐप्रेज़ल कमीशन), १६३२ की रिपोर्ट में, जो हाल ही में प्रकाशित हुई है, भविष्य में ईसाई-धर्मप्रचारकों के कार्य के लिए केवल इस दृष्टिकोण को ही उचित माना गया है।

## ५

## इस अध्ययन की भावना

इस प्रकार तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि कोई एक अथवा अन्य धर्म धार्मिक भावना की उच्चतम अभिव्यक्ति है। कारण यह है कि जब मिलते-जुलते तत्त्व आएदिन अन्य धर्मों के लोगों में भी दिखाई पड़ते हों, तब किसी भी धर्म को परम या सर्वोच्च बता पाना कठिन है। परमवादी दावे का बल इस प्रचलित विश्वास पर आधारित होता है कि उसके अपने विशिष्ट कट्टर सिद्धान्त और गाथाएं पूर्णतया अद्वितीय हैं; परन्तु तुलनात्मक धर्म बताता है कि यह धारणा गलत है। तुलनात्मक धर्म के मूल नेताओं में इस सत्य को हृदयंगम कर पाने योग्य हृदय की विशालता थी। जो लोग हमारे धर्म पर विश्वास नहीं करते, उनके होठों से निकली हुई प्रार्थनाओं को परमात्मा ठुकरा नहीं देता। मैक्समूलर ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया है। वे कहते हैं: "मेरा मत है कि संसार के महान धर्मों में से प्रत्येक में एक दैवीय तत्त्व विद्यमान है। मैं समझता हूं कि उनको शैतान की कारस्तानी बताना, जबकि वे सब ईश्वर के बनाए हुए हैं, ईश्वर की निन्दा करना है; और मेरा मत है कि ऐसी कोई जगह नहीं है, जहां परमात्मा में विश्वास उस दैवीय स्फुरणा के बिना हो गया हो, जो मनुष्य में कार्य कर रही दैवीय आत्मा का प्रभाव है। यदि मैं इससे भिन्न विश्वास करूं, यदि मैं अपनी गंभीरतम सहजवृत्ति के विरुद्ध अपने-आपको यह मानने के लिए विवश करूं कि केवल ईसाइयों की प्रार्थनाएं ही ऐसी हैं, जिन्हें कि परमात्मा समझ सकता है, तो मैं अपने-आपको ईसाई नहीं कह सकता। सब धर्म केवल हकलाने (अस्फुट भाषण) जैसे हैं; हमारा अपना धर्म भी उतना ही ऐसा है, जितना कि ब्राह्मणों का धर्म। उन सबका अर्थ समझना होगा; और मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि उनमें चाहे जो भी त्रुटियां क्यों न हों, उनका अर्थ समझा ही जाएगा।"[१] डाक्टर एस्टलिन कारपेण्टर का भी

१. 'द लाइफ ऐण्ड लेटर्स ऑफ फ्रेड्रिक मैक्समूलर', खंड २, पृष्ठ ४६४।

दृष्टिकोण ऐसा ही था : "वह यह स्वीकार करेगा कि वह स्वयं इस विश्वास में भाग नहीं ले सकता कि धर्म का कोई भी एक स्वरूप परम है। वह इस बात को स्पष्ट कर देगा कि उसके अपने अध्ययन से उसे यह निश्चय हो गया है कि यह याद रखना लाभदायक है कि ईसाइयत ही ईश्वरवाद (आस्तिकता) का एकमात्र रूप या नैतिक शक्ति का एकमात्र वाहन नहीं है, जिसे कि इतिहास ने हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है; और यह भी कि उसे यह प्रतीत नहीं होता कि अब तक बचे अभिलेख ईसाईधर्म को मानवीय प्रकृति के भ्रातृभाव और सामान्य मानवीय अनुभव से अलग-थलग रखने को उचित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।"[1] जब हम अपने मन को इस प्रकार खुला रखें, केवल तभी हम एक-दूसरे के विश्वासों को समझ सकते हैं। जब तक हम इसे अपने आन्तरिक अस्तित्व का एक अंग न बना लें, तब तक यह केवल एक निष्प्राण बौद्धिक योजना-मात्र रहेगी। अगर हम किसी अन्य धर्म के अनुयायी को समझना चाहते हैं, तो हमें उस प्रभाव को अनुभव करना होगा जिसने कि उसे अभिभूत कर लिया है।

इस कालेज और इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी सर्वप्रथम और सबसे बढ़कर सत्य के अन्वेषक हैं। कालेज कोई गिरजाघर नहीं है। यह किसी विशेषाधिकार के संरक्षण के लिए अथवा किसी एक धार्मिक विश्वास के प्रति अनुरूपता लाने के लिए नहीं है। इसका मुख्य कृत्य स्वतन्त्रता और ईमानदारी के वातावरण में रहकर सत्य की खोज करना है, यहां तक कि धर्म जैसे विषय में भी, जिसमें कि आवेश बहुत जल्दी जाग उठता है। विभिन्न धर्म एक ही उद्देश्य की खोज में बढ़नेवाले साथियों जैसे हैं। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो, तो आपका मुझे निमन्त्रित करना ही इस बात का प्रमाण है कि कम से कम यह कालेज अधिकतम स्वतन्त्रता और सत्य से घटकर किसी अन्य आदर्श को स्वीकार नहीं करता। यह किसी प्रचारात्मक प्रयोजन के लिए नहीं बना और न यह ही कहा जा सकता है कि यह भावना

१. वेदरआल : 'जोसेफ ई० कारपेण्टर—ए मेमोरियल वॉल्यूम' (१९२९), पृ० ११७–११८।

जीवित धर्मों की उच्चतम शिक्षाओं के साथ असंगत है।

इस मन्तव्य के समर्थन में कुछ थोड़े-से ऐतिहासिक प्रसंग भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। वैदिक विचारकों ने घोषणा की थी : "मनुष्य उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहकर पुकारते हैं; ऋषि उसके अनेक नाम बताते हैं जोकि वस्तुतः एक है।" या फिर "ऋषि लोग अपने मन्त्रों में उसे अनेक रूप देते हैं, जो केवल एक है।" भगवद्गीता के रचयिता ने गुरु (कृष्ण) के मुख से कहलवाया है : "हे कुन्ती के पुत्र, जो लोग अन्य देवताओं की पूजा करते हैं और श्रद्धापूर्वक उन्हें भेंट चढ़ाते हैं, वे भी वस्तुतः मुझे ही भेंट चढ़ाते हैं, यद्यपि यह भेंट विधिपूर्वक नहीं होती।" बौद्ध लोगों का आग्रह भी ऐसी ही ध्वनि पर है। मानवीय सभ्यता के इतिहास के इतने प्रारम्भिक काल में अशोक का शिलालेख सचमुच ध्यान देने योग्य है। "राजा प्रियदर्शी सब सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थों का आदर करते हैं। वे उपहारों द्वारा तथा विविध प्रकार की कृपाओं द्वारा उनका सम्मान करते हैं।...क्योंकि जो व्यक्ति केवल अपने सम्प्रदाय से पूर्ण अनुराग के कारण अन्य सम्प्रदायों की निन्दा करते हुए अपने सम्प्रदाय का आदर करता है, जिससे उसके अपने सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, वह वस्तुतः ऐसे आचरण द्वारा स्वयं अपने सम्प्रदाय पर कुठाराघात कर रहा होता है।"[1] इसी प्रकार ग्रीक विचारकों ने लोगोस (शब्दब्रह्म) के सिद्धान्त का इस रूप में विकास किया था कि वह मनुष्य और प्रकृति में कार्यशील दैवीय तर्क है। धर्म की सार्वभौमता का मूल अन्तर्वासी लोगोस को बताया गया है। ईसाईधर्म के प्रारम्भिक दिनों में इस धारणा ने बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। धर्म 'मनुष्यों की प्रत्येक जाति में अन्दर स्थापित लोगोस के बीज' की उपज हैं। जस्टिन, दि मार्टर (ईस्वी सन् १५०), की दृष्टि में वे लोग, जो लोगोस के साथ निवास करते थे, ईसा से पहले विद्यमान ईसाई थे; हालांकि उस युग के मूलाधारवादी (फंडामेंटलिस्ट) लोग सुकरात और हेराक्लीटस जैसे

---

१. 'इंस्क्रिप्शन्स ऑफ अशोक' : विनसेण्ट स्मिथ : 'अशोक' (१९०९) पृ० १७१।

दार्शनिकों को नास्तिक कहते थे। "हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि ईसा परमात्मा और लोगोस का, जिसमें कि सारी मानव-जाति हिस्सा लेती रही है, प्रथम पुत्र था; और जो लोग तर्क के अनुसार जीवन-यापन करते थे, वे ईसाई थे, भले ही उनको नास्तिक क्यों न माना जाता रहा हो। इस प्रकार के लोग यूनानियों में सुकरात और हेराक्लीटस थे; और उन जैसे अन्य लोग भी थे।" जस्टिन की दृष्टि में काव्य या दर्शन की, धर्म-विज्ञान अथवा कानून की सब उक्तियां लोगोस के आविर्भाव और चिन्तन से ही निकली हैं और वह ईमानदारी के साथ कह सकता था कि "किन्हीं भी मनुष्यों ने जो कुछ भी बातें ठीक-ठीक कही हैं, वे हम ईसाइयों की सम्पत्ति हैं।"[1] मानवीय विचार की सब सुन्दरतम कृतियां लोगोस में भाग लेने का परिणाम हैं। सेण्ट पीटर कहते हैं: "अब सचमुच मुझे यह बात समझ में आती है कि परमात्मा व्यक्तियों का आदर नहीं करता, अपितु प्रत्येक राष्ट्र में जो भी कोई उससे डरता है और ईमानदारी से काम करता है, वह उसे स्वीकार्य होता है।" प्रथम महान ईसाईधर्म-प्रचारक ने घोषणा की थी कि परमात्मा ने अपने-आपको किसी भी काल में ऐसा नहीं रखा कि उसका दर्शन न होता रहा हो। जब रोमन साम्राज्य ने अपने प्रभाव में पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी तथा मध्य यूरोप के विभिन्न जातियों के लोगों को पास-पास ला रखा, तब उसके विचारकों ने परमात्मा की एकता को उस एक सामान्य कड़ी के रूप में आविष्कृत किया, जो विभिन्न उपासना-पद्धतियों को परस्पर बांधे हुए थी। सीज़रिया के यूसेबियस (लगभग सन् २६०–३४० ईस्वी) ने एक ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम 'द प्रिपैरेशन फॉर द गॉस्पेल' (सुसमाचार के लिए तैयारी) था, जिसे डॉक्टर एस्टलिन कारपेण्टर ने 'ईसाईधर्म-विज्ञान से निर्गत तुलनात्मक धर्म पर पहला महान ग्रन्थ' बताया है।[2] सन् ३९० ईस्वी के आसपास मैडोरा के मैक्सीमस ने आगस्टाइन को लिखा था: "सर्वोच्च परमात्मा एक है

१. कारपेण्टर : 'कम्पैरेटिव रिलिजन' (१९२९), पृष्ठ २५।
२. वही, पृष्ठ ५३।

और उसकी कोई प्राकृतिक सन्तान नहीं है। वह मानो परमात्मा और सबका शक्तिशाली पिता है। उन दैवीय शक्तियों की, जो उस परमात्मा द्वारा बनाए हुए संसार में व्याप्त हैं, हम अनेक नामों से पूजा करते हैं, क्योंकि हम सब उस परमात्मा के सच्चे नाम को नहीं जानते। इस प्रकार होता यह है कि जबकि हम एक-दूसरे से भिन्न प्रार्थनाओं के रूप में उस दिव्य अस्तित्व के कुछ अंशों तक पृथक्-पृथक् पहुंचते हैं, तब हम वस्तुतः उसके पुजारी के रूप में दिखाई पड़ते हैं, जिसमें कि ये सब अंश मिलकर एक हो गए हैं।"[1] आगस्टाइन तक ने, जिसे कट्टर सिद्धान्तवादी ईसाइयत का मुख्य समर्थक माना जाता है, अपनी अन्तिम पुस्तक 'रिट्रैक्टेशन्स (प्रत्याख्यान) में कहा है : "वही वस्तु, जो अब ईसाईधर्म कहलाती है, प्राचीन लोगों में विद्यमान थी और जब से मानव-जाति का प्रारम्भ हुआ है, तब से लेकर ईसा के शरीर-रूप में अवतरित होने तक कभी भी समाप्त नहीं हुई। उसके बाद वह सच्चा धर्म, जोकि पहले से ही विद्यमान था, ईसाईधर्म कहलाने लगा।"[2] सम्राट् अकबर ने, जिसे मैक्समूलर के मतानुसार 'वह पहला व्यक्ति समझा जा सकता है जिसने कि संसार के धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का साहसपूर्ण आरम्भ किया था'[3], इस्लाम की सर्वोच्चता में अपना विश्वास त्याग दिया था और यह घोषणा की थी कि "सब धर्मों में और मिताचारी विचारकों में विवेकशील पुरुष विद्यमान हैं और सब राष्ट्रों में चमत्कारी शक्तियों वाले लोग पाए जाते हैं।" ऋग्वेद में वरुण की ऐसी स्तुतियां मिलती हैं, जिनसे 'सामों' (ईसाई-धर्मगीतों) और ईसाई-भक्ति-साहित्य की भाषा स्मरण हो आती है। प्राचीन बेबीलोन या मिस्र में या हमारे रोम और बनारस में ईश्वर के भक्त करुणा के सिंहासन के निकट आकांक्षा और स्तुति के, अपने पाप की स्वीकृति और विनय के उन्हीं शब्दों के साथ पहुंचते हैं। तात्त्विक

---

१. 'कारपेण्टर : कम्पैरेटिव रिलिजन' पृष्ठ ३५।

२. १, १३।

३. 'इण्ट्रोडक्शन टू द साइंस ऑफ रिलिजन' (१६०६), अध्याय १ का परिशिष्ट, पृष्ठ ६८।

दृष्टि से आन्तरिक धार्मिक चेतना में परिवर्तन बहुत कम हुआ है। यह अपने लिए अभिव्यक्ति के विविध रूप निकाल लेती है और इन परिवर्तनों का कारण ऐतिहासिक परिस्थितियां होती हैं। विवेकशील दृष्टि के लिए एकता स्थापित करनेवाली वस्तुएं विभक्त करनेवाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महान हैं।

यदि उचित रीति से अध्ययन किया जाए, तो तुलनात्मक धर्म परमात्मा की सार्वभौमता में हमारे विश्वास और मानव-जाति के प्रति हमारे आदर को बढ़ाता है। यह हमारे अन्दर केवल सहिष्णुता की मनोवृत्ति को नहीं जगाता, जिसमें कि सचेत बड़प्पन की भावना निहित है; न यह केवल शरण देनेवाली करुणा को, न लोकोत्तर उदारता को ही जगाता है, अपितु सच्चे आदर और मूल्यांकन की भावना उत्पन्न करता है।[१] हमें दैवीय वस्तुओं के प्रत्येक सच्चे और ईमानदार शिक्षक में, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, इस बात को खोजने का प्रयास करना चाहिए कि "उसके अन्दर जो भावना थी, वह किस बात की द्योतक थी।"[२] जिस रीति से पुरातत्त्व-वेत्ता प्राचीन काल की वस्तुओं के संग्रहालय में विलुप्त अतीत के सुरक्षित अवशेषों का अध्ययन किया करते हैं, उस रीति से संसार के धर्मों का अध्ययन करने से कोई लाभ नहीं है। कारण यह है कि विभिन्न धर्म मानवीय मन

१. जब मैक्समूलर ने यह कहा तो वे अपने लक्ष्य से भी कुछ आगे पहुंच गए कि : "संभवतः प्रारम्भिक बौद्धधर्म को छोड़कर अन्य कोई भी धर्म संसार के प्रमुख धर्मों की निष्पक्ष तुलना के विचार का स्वागत न करता।...केवल ईसाईधर्म ही ऐसा है जिसने किसी विशिष्ट जाति के धर्म के रूप में नहीं, किसी वरण की गई (परमात्मा द्वारा चुनी गई) जाति के धर्म के रूप में नहीं, अपितु मानवता के धर्म के रूप में मानव-जाति के इतिहास को अपने इतिहास के रूप में अध्ययन करना, संसार की सब जातियों के विकास में दैवीय ज्ञान और प्रेम के चिह्नों की खोज करना और यदि सम्भव हो तो धार्मिक विश्वासों के निम्नतम और अपरिष्कृततम रूपों को भी शैतान की कारस्तानी न समझकर ऐसी वस्तु समझना सिखाया है, जो दैवीय मार्ग-दर्शन की सूचक है।"—'इण्ट्रोडक्शन टु द साइंस ऑफ रिलिजन', पृष्ठ २१।

२. १. 'पीटर', १, २।

की उस जीवन को पाने की महत्त्वाकांक्षाओं के प्रतिनिधि हैं जो इस संसार का नहीं है; उन महत्त्वाकांक्षाओं के, जो केवल स्वप्न नहीं, अपितु मनुष्यों के जीवन की सबसे अधिक शक्तिशाली वास्तविकताएं हैं। तब यदि विभिन्न धर्मों में आश्चर्यजनक समानताएं हैं, तो वे या तो इस कारण हो सकती हैं कि उनका मूल स्रोत एक ही था, या इस तथ्य के कारण कि जब मानवीय बुद्धि के सम्मुख एक जैसे तत्त्व उपस्थित हुए, तो उसने सब जगह मिलते-जुलते निष्कर्ष निकाले और एक-सी सहज वृत्तियों से प्रेरित होकर मिलती-जुलती उपासना-पद्धतियां बना डालीं।

## ६

## तुलनात्मक धर्म की समस्याएं

तुलनात्मक धर्म के विषय के अन्तर्गत अनेक स्पष्टतया पृथक् समस्याएं आती हैं। सामान्यतया धर्मों के उद्‌गमों के प्रश्न पर जो ज़ोर दिया जाता है, उसका कारण तुलनात्मक धर्म के आरम्भ के दिनों में विद्यमान परिस्थितियां हैं। अन्य धर्मों का अध्ययन पुरातत्त्व-विज्ञान की, अथवा प्राचीन वस्तुओं से सम्बन्धित, इस रुचि के साथ किया जाता है कि क्या वे मृतकों की पूजा से प्रारम्भ हुए, अथवा विपत्तिकारी शक्तियों के भय से और उन्हें दूर रखने की इच्छा से उत्पन्न हुए। हम ऐसे काल में पहुंच जाते हैं, जहां प्रमाणों का स्थान कल्पना ले लेती है। मैं इन अध्ययनों के महत्त्व को कम करके नहीं बताना चाहता, परन्तु इस प्रसंग में मेरा सम्बन्ध मुख्यतया इन प्रश्नों से नहीं है।

फिर, विभिन्न धर्मों के इतिहास के सम्बन्ध में भी समस्याएं हैं। कुछ पटुतापूर्ण सिद्धान्तों में यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि ज़रथुस्त्र-वाद का अहुरमज़्दा और आर्थर एक ही हैं और यह कि अब्राहम, आरोन और आर्थर 'एक ही तत्त्व के अलग-अलग रूप हैं'। सर जेम्स फ्रेज़र ने

ऐडोनिस की दन्तकथा की, जैसी कि वह बेबीलोनिया में विद्यमान थी और जिससे उसे यूनान ने सातवीं शताब्दी ईस्वीपूर्व में लिया था, तुलना फ्रीजिया में प्रचलित ऐट्टिस की दन्तकथा और मिस्र में प्रचलित ओसीरिस की इससे मिलती-जुलती पुराणकथाओं के साथ की है।[1] जेन्सन ने यह कथा फैलाई और असाधारण चतुराई और क्लिष्ट कल्पनाओं द्वारा इसका समर्थन किया कि मूसा, ईसा और पॉल बेबीलोनिया के प्राचीन महाकाव्य के पौराणिक नायक गिल्गामेश के रूपान्तर-मात्र हैं। देवताओं की मृत्यु और उनके फिर जीवित हो उठने में विश्वास मिस्र, बेबीलोनिया, फोनी-सिया और सीरिया में पाया जाता है और इस सम्बन्ध में बहुत काफी जानकारी 'द गोल्डन बॉव्' के एक विशाल खंड में, जिसका शीर्षक 'द डाइंग गॉड' (म्रियमाण ईश्वर) है, मिल सकती है। प्रोफेसर किरसोप लेक ने 'पॉल्स अर्लियर एपिसल्स' (पॉल के प्रारम्भिक धर्मपत्र) के सम्बन्ध में लिखी अपनी पुस्तक में आदिम ईसाईधर्म का प्रारम्भिक रोमन साम्राज्य के रहस्यपूर्ण धर्मों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट किया है। बुद्ध, कृष्ण और ईसा के जन्म की कथाओं में कुछ ऐसी आश्चर्यजनक समानता है, जो इस बात का संकेत करती है कि ये एक-दूसरे से ली गई हैं। भगवद्गीता और सुसमाचारों (गॉस्पेल) की शिक्षाओं में पाई जानेवाली समानताओं के कारण बहुतसे लोग यह सोचने लगे हैं कि कृष्ण और क्राइस्ट (ईसा) एक ही थे। बौद्धधर्म और ईसाइयत, इन दो धर्मों के संस्थापकों के जीवनों, उनके धर्मग्रन्थों और उनकी नैतिक शिक्षाओं की तुलना निस्सन्देह एक ज्ञानवर्धक अध्ययन है। विचारों की पूर्वज-परम्परा का अध्ययन तुलनात्मक धर्म की एक बहुत ही उर्वर शाखा है।

किसी भी एक अथवा अन्य कल्पना का मूल्य कुछ भी क्यों न हो, परन्तु जब तुलनात्मक पद्धति का उपयोग सूझ-बूझ और संयम के साथ, सहानुभूति और श्रद्धा के साथ किया जाएगा, तो उससे हमें विभिन्न धर्मों की समान पृष्ठभूमि को और उनकी मिली-जुली रचना को समझने में

१. 'ऐडोनिस, ऐट्टिस और ओसीरिस' (१९०६) पर उनकी पुस्तक देखिए।

सहायता मिलेगी और हमें लगेगा कि मानव-स्वभाव जितना विविधरूप और प्रचुरतापूर्ण है, उतना ही एकतापूर्ण भी है। हम किन्हीं दो धर्मों को चुनकर उनकी संस्थापना के प्रेरक कारणों और मोटे-मोटे अंगों का अध्ययन कर सकते हैं या उनके विशिष्ट पहलुओं जैसे रहस्यवाद, तपस्यावाद, बलिदान (यज्ञ), प्रार्थना और अवतार इत्यादि की तुलना कर सकते हैं। इस प्रकार की जांच से हमारे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाल पाना सम्भव हो जाएगा। हम इस बात का निश्चय कर सकते हैं कि किसी धर्म के कौनसे तत्त्व उसके अपने हैं और कौनसे उसने दूसरों से उधार लिए हैं और किनसे उधार लिए हैं ; और उनकी समानताएं केवल ऊपरी हैं अथवा उनकी जड़ें गहराई तक गई हुई हैं। उनमें परस्पर सहमतियां या समानताएं ऐतिहासिक सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाली प्रेरणाओं के फलस्वरूप हैं अथवा किसी एक ही प्रकार के अनुभव के कारण उत्पन्न हुई हैं ?[1] विचार की किन शक्तियों ने उनका रूप गढ़ा है और वे किन अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं ? फिर, इसका क्या कारण है कि एक ही जाति से सम्बन्ध रखनेवाले लोग अलग-अलग धर्मों को मानते हैं ? जलवायु, अन्य लोगों के साथ सम्पर्क और परिवेश के साथ संघर्ष का उन-पर क्या असर पड़ा है ? तुलनात्मक धर्म इन समानान्तरताओं और समानताओं के अध्ययन द्वारा हमारी दृष्टि को विस्तृत करता है। जब हम अन्य धर्मों की दन्तकथाओं और चमत्कारों की आलोचना करते हैं, तो हमें अपने धर्म के प्रति भी वैसी ही विवेचक आलोचना की मनोवृत्ति अपनानी चाहिए।

यदि हम परिवर्तन के उन आनुक्रमिक रूपों और उन सोपानों की खोज करें जिनमें से कोई एक धर्म गुज़रा है, यदि हम किसी भी एक धर्म के बाह्य विकास, उसकी पूजा की पद्धतियों और उसके सिद्धान्तों की पृष्ठ-

१. कुछ आधुनिक मानवविज्ञानविद् इस दृष्टिकोण को अपनाने के लिए उतने उद्यत नहीं हैं कि अनुरूपताएं मनुष्य और प्रकृति की अधिक गहरी एकता के कारण उत्पन्न हो सकती हैं। वे प्रसार वाली परिकल्पना के पक्ष में अधिक हैं।

भूमि तक पहुंचना चाहें, तो हमें उन कारणों के सम्बन्ध में उन और अधिक कठिन प्रश्नों का सामना करना होगा, जिन्होंने इन कार्यों को रूप प्रदान किया और इन विश्वासों को गढ़ा। ये हमें समस्याओं के तीसरे समूह तक ले जाते हैं, जो मानवविज्ञानीय या ऐतिहासिक समस्याओं से पृथक् हैं। नामशः ये दार्शनिक समस्याएं हैं। यहां हमारे सामने मूल्य और वैधता के प्रश्न उपस्थित होते हैं। तुलनात्मक धर्म द्वारा एकत्र किए गए तथ्यों को अदृष्ट आधार की वास्तविकता प्रकट करने के सम्बन्ध में किस सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है? यदि हम पूजा और विश्वास के उन रूपों को न गिनें, जोकि हमें उन आदिम और घुमन्तू या खानाबदोश जातियों में दिखाई पड़ते हैं, जिनके अपने कोई ऐसे धर्मग्रन्थ या पवित्र नियम या ऐसे मन्त्र और प्रार्थनाएं तक नहीं हैं, जो हर पीढ़ी द्वारा अगली पीढ़ी को सौंपी जाती रही हों, तो ऐतिहासिक धर्म केवल सात या आठ ही रह जाते हैं। सामी (सेमिटिक) जातियों के तीन धर्म हैं, यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म। हिन्दूधर्म का—जिसकी बौद्ध, जैन और सिख धर्म आदि अनेक शाखाएं हैं—और ज़रथुस्त्रवाद का विकास आर्यजातियों ने किया। इनके साथ यदि कनफ्यूशियस और लाओत्से के धर्मों को मिला लिया जाए, तो बस ये ही मानव-जाति के जीवित धर्म हैं। यदि मैं इसके लिए सक्षम भी होता, तो भी इस भाषण में इन धर्मों के उच्चतर विचारों के सम्बन्ध में चर्चा कर पाना सम्भव नहीं था। मेरा प्रयत्न यह होगा कि आपके साथ मनुष्य-जाति के धार्मिक अनुभव की पूर्व-धारणाओं के सम्बन्ध में, सद्भावनापूर्वक, जैसा कि सेंट पॉल ने कहा है, 'आध्यात्मिक वस्तुओं की आध्यात्मिक वस्तुओं से' तुलना करते हुए उस रूप में विचार किया जाए, जैसा कि वह अपने एक या दो प्रतिबिम्बात्मक रूपों में विद्यमान है।[1] धार्मिक मनुष्य के रूप में हमारा यह कर्तव्य है कि हम जहां कहीं भी सत्य और अच्छाई को पाएं, वहीं उसे इस विश्वास के साथ पहचानें और उसमें आनन्द लें कि जो कुछ भी सत्य और शिव है, वह सब परमात्मा से प्रसूत है।

१. १ 'कोरिन्थियन्स', २, १३।

## ७

## प्रतिपादन की पद्धति

एक बात यह है कि तुलनात्मक धर्म ने सत्य और मिथ्या धर्मों के बीच समान्यतया किए जानेवाले भेद को अमान्य बना दिया है। गैर-ईसाई धर्मों की रोमन कैथोलिकों और ऐंग्लिकन लेखों द्वारा व्यापक रूप से 'बिल्कुल मिथ्या' कहकर की जानेवाली निन्दा बेहूदा लगने लगती है। सामान्यतया सत्य और मिथ्या का अन्तर 'मेरे' और 'तेरे' के साथ एकरूप होता है। यह बात यहूदी और जेण्टाइल (गैर-यहूदी), हिन्दू और म्लेच्छ, यूनानी और बर्बर (असभ्य), ईसाई और विधर्मी, मुसलमान और काफिर में किए जानेवाले भेद पर लागू होती है। हमारे प्रयोजन के लिए यह द्वि-विभाजन व्यर्थ है।

अपौरुषेय (ईश्वरादिष्ट) धर्म और प्राकृतिक धर्म के मध्य वैषम्य यद्यपि सत्य और मिथ्या के मध्य वैषम्य के तुल्य नहीं है, फिर भी उसका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि जैसे उसमें यह पिछला वैषम्य निहित हो। ईश्वरादिष्ट धर्म को एक विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति प्राप्त है। ईश्वर द्वारा उद्घाटन एक सार्वभौम देन है। उसपर किसी एक स्थान-विशेष का ही दावा नहीं है। अब हम यह नहीं कह सकते कि सत्य ने अपना निवास-स्थान संसार के केवल किसी एक भाग में ही बना रखा है। अब हम इस बात को अपने पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टरूप से अनुभव कर पाने में समर्थ हैं कि परमात्मा ने मनुष्यों को अपना ज्ञान एक-दूसरे से भिन्न अनेक रूपों में करवाया है। अब हम इस बात को नहीं मान लेते कि जो कुछ भी अच्छा और सत्य और मूल्यवान है, वह सब किसी एक ही धर्म में पाया जाता है, और जिन लोगों को उस धर्म को अपनाने का सुअवसर नहीं मिला, उनके भाग्य में अनन्त यन्त्रणा लिखी है। हमारे मुख से ऐसी धार्मिक रण-तत्परता बहुत अजीब सुनाई पड़ेगी। हमारे सम्मुख परमात्मा का एक कहीं अधिक उच्च और अधिक सत्य स्वरूप विद्यमान है।

इसलिए धर्मों के सम्बन्ध में प्रश्न सत्यता या मिथ्यात्व का नहीं, अपितु जीवन या मृत्यु का है। देखना यह है कि कोई धर्म एक निष्प्राण कुतूहल-मात्र है अथवा एक जीती-जागती वस्तु है। प्रत्येक जीवित धर्म का अपनी जाति के आध्यात्मिक शिक्षण में अपना भाग होता है। हमारे अनेक धार्मिक विरोधाभास या असंगतियां और विमूढ़ताएं हमारे क्षितिज की संकुचितता के कारण हैं। अपनी सहृदयता को विस्तृत करके हम अपने विचार को अपने युग के संकीर्ण विवादों से ऊपर उठा लेते हैं। हम सबको गेटे का यह विरोधाभास भली भांति मालूम है : "जो केवल एक भाषा जानता है वह वस्तुतः कोई भाषा नहीं जानता।" कवि ने पूछा था : "वह इंग्लैंड के विषय में क्या जानता है, जो केवल इंग्लैंड के ही विषय में जानता है ?" जो बात भाषा और इतिहास के विषय में सत्य है, वह धर्म के विषय में भी सत्य है। हम स्वयं अपने धर्म को तब तक नहीं समझ सकते, जब तक कि उसकी अन्य किसी एक या अनेक धर्मों के साथ तुलना करके न देख लें। अन्य धर्मों का बुद्धिमत्तापूर्वक तथा आदरपूर्वक अध्ययन करने से हमें उनकी परम्पराओं के विषय में और हमारी अपनी परम्पराओं के विषय में एक नया अवबोधन और मूल्यांकन प्राप्त होता है। जो भी वस्तु विचारों की समस्वरता की इस वृद्धि में सहायक है, वह प्रोत्साहन देने योग्य है। तुलनात्मक धर्म उन महत्त्वपूर्ण उपकरणों में से एक है, जिनके द्वारा मानव-जाति के आध्यात्मिक विकास की ऐतिहासिक चेतना उपलब्ध की जा सकती है।

फिर, भारत का ग्रेटब्रिटेन के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है और यदि इस बन्धन को भौतिक सम्बन्धों की अपेक्षा अधिक स्थायी बनाना हो तो भारत के धर्मों के सम्बन्ध में और अधिक अवबोधन बहुत आवश्यक है। इस देश में कुछ विचारकों—स्वर्गीय लार्ड हाल्डेन और प्रिंसिपल जैक्स— को इस आवश्यकता का ज्ञान है। लार्ड हाल्डेन ने अपनी मृत्यु के कुछ सप्ताह पहले 'हिब्बर्ट जर्नल'[1] में प्रकाशित एक लेख 'पूर्व और पश्चिम' में 'पारस्परिक समझौते और सहानुभूति द्वारा 'भारत पर शासन करना सीखने के नये

१. जुलाई, १९२८।

काम' पर ज़ोर दिया था, 'जिसके द्वारा वह समस्या काफी हद तक हल हो सकती है, जिसको हल कर पाना असम्भव जान पड़ता है, क्योंकि हमने उसे असम्भव-सा बना दिया है।' प्रिंसिपल जैक्स पूछते हैं : "क्या वह समय नहीं आ गया है, जबकि ईसाईचर्च के नेताओं के लिए इस बात को समझ लेना लाभदायक है कि ब्रिटिश राज्य के केवल भारत में ही लगभग तीस करोड़ गैर-ईसाई प्रजाजन हैं, जिनकी धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी राज्य करता है; और यह कि इसके फलस्वरूप राज्य के मन को धर्म के प्रति अपने कर्तव्यों को उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से देखना पड़ता है, जो ईसाईचर्च के परस्पर विवादरत दलों के विवादों या वस्तुतः ईसाईधर्म के आन्तरिक मतभेदों से ही सम्बन्ध रखनेवाले किन्हीं भी विवादों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है?" किसी भी धार्मिक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के लिए तुलनात्मक धर्म का अध्ययन अपरिहार्य आधार है। यह हमें सब धर्मों का एक ऐसा आधार प्रदान करता है, जिसे परास्त नहीं किया जा सकता। आज, जबकि धार्मिक विचारधारा अपने विकास में उस विशिष्ट सोपान तक पहुंच गई है, जिसे कि चौंकानेवाले लोग संकट की वेला कहते हैं, यह तुलनात्मक धर्म अनिवार्य वस्तु है।
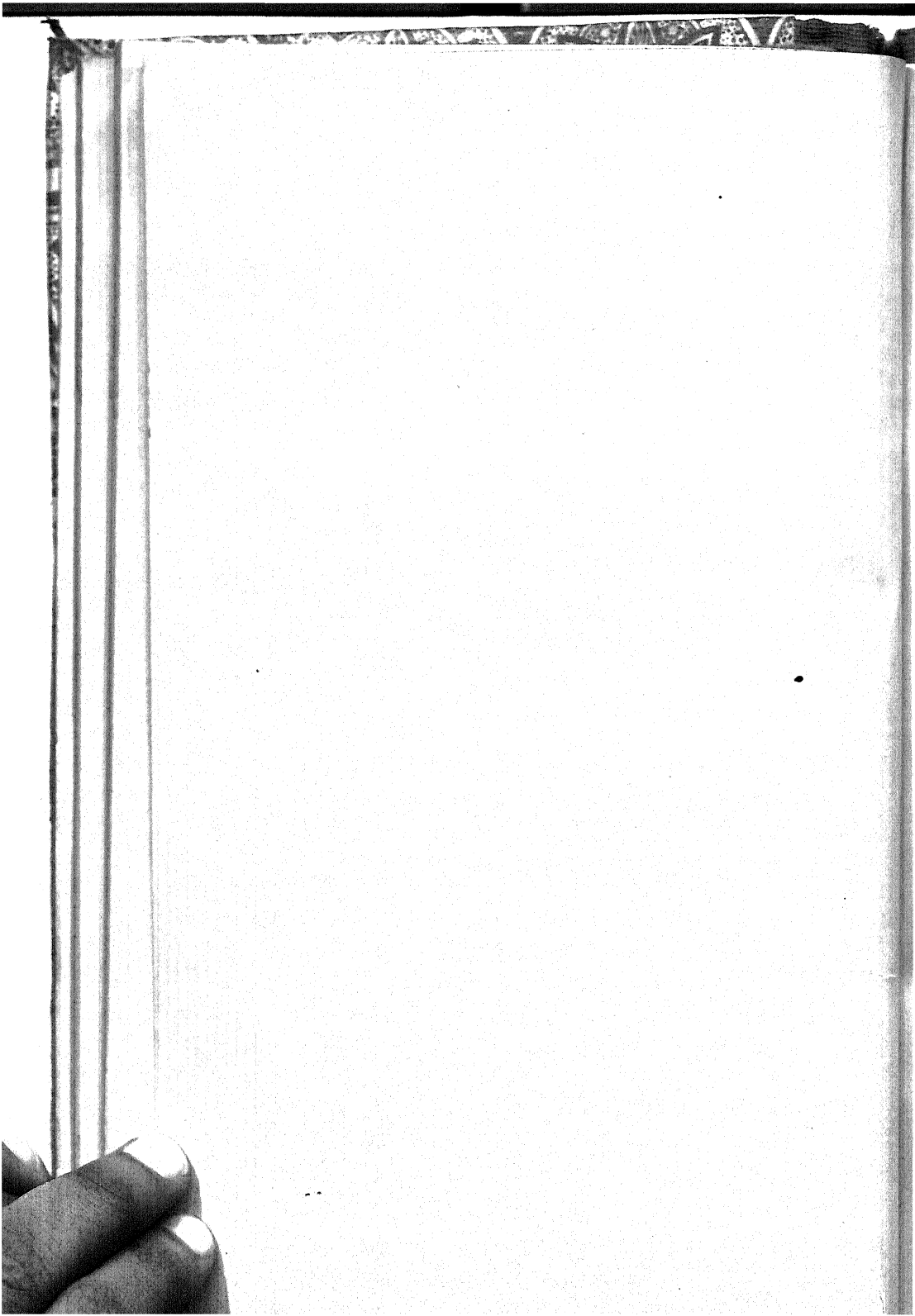
दूसरा व्याख्यान

# धर्म में पूर्व और पश्चिम[1]

## १

## पूर्व और पश्चिम के मध्य सम्पर्क

इस विस्तृत विषय की किसी एक व्याख्यान में यथोचित-सी मीमांसा कर पाना असम्भव है। यहां मैं मानव-जाति की दो विशाल धाराओं, एशियाई और यूरोपीय, के साथ सम्बन्धित पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में केवल कुछ प्रमुख बातों का उल्लेख कर सकता हूं। मानवीय संस्कृति के इतिहास में एशिया और यूरोप दो पूरक पक्षों के प्रतिनिधि हैं; एशिया आध्यात्मिक पक्ष का और यूरोप बौद्धिक पक्ष का। समय-समय पर ये दोनों धाराएँ मिली हैं, जिससे दोनों को लाभ हुआ है। पहले-पहल पौरस्त्य ज्ञान ने—मिस्र, चेल्डिया और भारत के ज्ञान ने—पश्चिम के पाइथागोरस और प्लेटो जैसे दार्शनिकों को प्रभावित किया। पश्चिमी एशिया पर सिकन्दर के आक्रमण और ईस्वी सन् से पहले की शताब्दियों में सीरिया और पैले-स्टाइन में गए बौद्धधर्म-प्रचारकों को द्वितीय सम्पर्क का सूचक समझा जा सकता है। अशोक के एक शिलालेख से हमें पता चलता है कि ईस्वीपूर्व तीसरी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में ऐण्टिओक में सेल्यूसीडे और सिकन्द-रिया में टोलेमी वंश के राजदरबारों में बौद्धधर्म-प्रचारक भेजे गए थे। इस्लाम के अनुयायियों द्वारा स्पेन तथा भूमध्यसागर के दक्षिणी तट पर आक्रमण इस प्रकार के सम्पर्क का तीसरा प्रयत्न है। इन तीन सम्मिलनों का प्रभाव महान यूनानी रोमन, ईसाई और आधुनिक सभ्यताओं पर किस

१. लंदन में मेरी वार्ड सेटलमेण्ट में १ मार्च, १९३० को दिया गया जोवेट व्याख्यान।

सीमा तक और किस रूप में पड़ा, इसका निश्चय कर पाना कठिन है। मानवता के भविष्य के सम्बन्ध में सबसे आशाजनक तथ्य यह है कि वर्तमान काल में संसार के लोग एक-दूसरे के निकट आ गए हैं। पूर्व और पश्चिम अब विचार या जीवन में एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। अब तक इन दोनों के मध्य जो सम्पर्क सामयिक और अल्पकालीन होते थे, अब वे निरन्तर और स्थायी बन गए हैं।

## २

## धर्म की आवश्यकता

आधुनिक संसार की एकता के लिए कोई नया सांस्कृतिक आधार होना चाहिए; वास्तविक प्रश्न यह है कि वह आर्थिक और व्यवहारवादी मस्तिष्क द्वारा, जोकि इस समय अधिक प्रभुतापूर्ण है, प्रेरित होना चाहिए अथवा आध्यात्मिक मन द्वारा। एक ऐसा यान्त्रिक जगत्, जिसमें मानवता आत्माशून्य कार्यकुशलता के यन्त्रजात के रूप में ढाल दी गई हो, मानवीय प्रयत्न का उचित लक्ष्य नहीं है। हमें एक ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसके अन्दर न केवल अर्थशास्त्र और राजनीति का विशाल आवेशपूर्ण जीवन हो, अपितु आत्मा की सुगूढ़ आवश्यकताओं के लिए भी स्थान हो। किसी सभ्यता का वास्तविक स्वरूप उसकी रूढ़ियों और संस्थाओं से उतना पता नहीं चलता, जितना कि उसके आत्मिक मूल्यों और मन की सज्जा से पता चलता है। धर्म सभ्यता का आन्तरिक पक्ष है, मानो वह अपने सामाजिक संगठन-रूपी शरीर की आत्मा हो। विज्ञान का उपयोग, आर्थिक समझौते, राजनीतिक संस्थाएं संसार को बाह्य रूप से संगठित कर सकते हैं, परन्तु एक सुदृढ़ और स्थिर एकता के लिए विचारों और आदर्शों की अदृश्य, किन्तु गम्भीरतर कड़ियों को पक्का किया जाना चाहिए। मानवीय कुटुम्ब के पुनर्निर्माण के कार्य में धर्म द्वारा पूरा किए जानेवाला

भाग विज्ञान के भाग की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मानव-व्यक्ति शरीर, मन और आत्मा से बना है। इनमें से प्रत्येक को अपने लिए समुचित पोषक तत्त्व चाहिए। शरीर भोजन और व्यायाम द्वारा चुस्त रहता है, मन विज्ञान और आलोचना द्वारा सज्ञान रहता है और आत्मा कला और साहित्य द्वारा, दर्शन और धर्म द्वारा प्रबुद्ध रहती है। यदि मानवता की आत्मा का विकास होना हो, तो वह केवल उसकी सुन्दरतर ऊर्जाओं के प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। एशियाई और यूरोपीय धाराओं ने अपने-अपने ढंग से आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न कर दिखाए हैं; एशियाई धारा ने अपनी पूर्ण आध्यात्मिक निष्ठा द्वारा और यूरोपीय धारा ने अपनी कठोर बौद्धिक निष्पक्षता द्वारा। जीवन की विशाल धारा अपना तल उस प्रदेश के ढलान के अनुकूल बनाती जाती है, जिसमें होकर वह बहती है। विचार और जीवन के क्षेत्र में इन दोनों महाद्वीपों के एक-दूसरे से स्वतन्त्र अस्तित्व का फल यह हुआ कि उनकी अपनी कुछ खास विशेषताएं और विधि-विधान बन गए। परन्तु वस्तुतः मन और आत्मा की ऐसी कोई भी विशेषताएं नहीं हैं, जो अनन्यरूप से किसी एक ही जाति की बपौती हों। महान जातियों में अन्तर उतना इस बात का नहीं होता कि उनमें कोई अमुक विशेषता विद्यमान है या नहीं, जितना कि इस बात का होता है कि वह विशेषता कितनी मात्रा में या कितनी सीमा तक विद्यमान है। पश्चिम रहस्यवाद या बलिदान से एकदम शून्य नहीं है; और न पूर्व ही विज्ञान और लोकभावना से रहित है। दोनों में यदि कोई भेद है, तो वह सापेक्ष है, जैसे कि सभी ऐहिक भेद हुआ करते हैं। जो कुछ मैं कहूंगा, यदि उसमें कुछ कट्टर सिद्धान्तवाद की प्रतीति हो, तो वह केवल प्रतिपादन की सुविधा के लिए होगी। कारण यह है कि कट्टर सिद्धान्तवादी और संकीर्ण राष्ट्रवादी भेद इसलिए करते हैं कि वे विभाजन कर सकें, जबकि सत्य का अन्वेषक इसलिए विभाजन करता है कि वह वस्तुओं में भेद कर सके।

## ३

# जीवित धर्म

धर्म के विषय में भारत पूर्व का प्रतीक है। भौगोलिक दृष्टि से यह सामी-(सेमिटिक) पश्चिम और मंगोल-पूर्व के बीच में स्थित है। स्वर्गीय श्री लोविस डिकिन्सन ने अपनी पुस्तक 'एस्से ऑन द सिविलिज़ेशन्स ऑफ़ इंडिया, चाइना ऐंड जापान' (भारत, चीन और जापान की सभ्यताओं पर निबन्ध) में लिखा है कि भारत ही एक ऐसा देश है, जो पूर्व का प्रतीक है। सामी भावना अपनी क्रियावादिता और सत्ता के प्रेम की दृष्टि से पश्चिम की अधिक आत्मीय है। रोम का निकटस्थ पड़ोसी होने के कारण सामी एशिया में युद्ध और संगठन की भावना विकसित हो गई। यह पूर्व और पश्चिम के मध्य सन्ध्या का प्रदेश है। फिर, सुदूरपूर्व में पौरस्त्य रहस्यवाद शनैः-शनैः सौन्दर्य और व्यवस्था के प्रेम में और व्यवहारवाद की भावना में पहुंच जाता है। यूनान और रोम पश्चिम की भावना के प्रतीक हैं।

और आगे बढ़ें तो, जीवित धर्मों में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसका उद्गम पश्चिम में हुआ हो। वे सब के सब भारत, ईरान या फिलस्तीन में पले-पुसे हैं। उनमें से कुछ पश्चिम की ओर फैल गए। इस प्रकार ईसाइयत एक पूर्वी धर्म है, जिसकी कलम ले जाकर पश्चिम में लगा दी गई और वहां इसने वे स्वरूप अपना लिए, जो पश्चिमी मन की विशेषता हैं। हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म पूर्व में ही रहे। यहूदीधर्म पर अलेक्ज़ैण्ड्रियन (सिकन्दरियाई) विचारधारा के दिनों में पश्चिमी प्रभाव बहुत काफी पड़ा। ईसा से पूर्व के काल में सिकन्दरिया के यहूदी यूनानी जीवन और विचारधारा के सम्पर्क में आए। इस सम्पर्क का परिणाम धार्मिक दर्शन की यहूदी-सिकन्दरियाई विचारधारा के रूप में हुआ, जिसका कि अन्तिम महान प्रतिनिधि फाइलो था। इस्लाम यहूदीधर्म से निकला और वह बड़ी सीमा तक पश्चिम में यूनानियों और स्पेनवासियों का ऋणी है। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में, जोकि इस्लामी संस्कृति का स्वर्णयुग था, विज्ञान और दर्शन की यूनानी

रचनाएं अरबी में सुविदित थीं और बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में हुई महान विचार-क्रान्ति कुछ अरबी ग्रन्थों के लैटिन अनुवादों के यूरोप पहुंचने के फलस्वरूप हुई थी। फिर भी यहूदीधर्म और इस्लाम मुख्यतया पौरस्त्य हैं। हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म को पूर्वी धर्मों का प्रतीक माना जा सकता है, क्योंकि ये दोनों ही उद्गम और विकास की दृष्टि से पूर्वीय हैं, और ईसाइयत को पश्चिमी धर्म का प्रतीक समझा जा सकता है। कारण यह है कि यह जीवन का नियम है कि अन्य वस्तुओं की भांति धर्म भी उन संगठनों की प्रकृति को अपना लेते हैं, जो उन्हें आत्मसात् करते हैं। ईसा की विशुद्ध और सरल शिक्षाओं में तथा पश्चिम में ईसाइयत का जिस रूप में विकास हुआ, उसमें पाया जानेवाला अन्तर धर्म के सम्बन्ध में पूर्वीय और पश्चिमी मनोवृत्तियों के अन्तर का सुस्पष्ट उदाहरण है।

४

## आध्यात्मिक जीवन और बौद्धिक नियमनिष्ठा

पश्चिमी मन बुद्धिवादी और नैतिक, प्रत्यक्षवादी और व्यावहारिक है, जबकि पूर्वीय मन आन्तरिक जीवन और अन्तर्ज्ञानात्मक विचार की ओर अधिक झुका हुआ है। रॉबर्ट ब्रिजिज़ अपने 'दि टेस्टामेण्ट ऑफ ब्यूटी' (सौन्दर्य का धर्मग्रन्थ) में कहता है कि अतीत में पश्चिम आध्यात्मिक ज्ञान के लिए पूर्व की ओर ताकता था और अब पूर्व पश्चिम की भौतिक विजयों से चुंधिया-सा रहा है।

हमारे पूर्वज पूर्व की ओर यात्रा करते थे, उन आश्चर्यों का आनन्द
    लेने के लिए
जहां पिरामिड, पगोडा और चित्रोपम वेशभूषा
प्राचीनता के धूमिल सूर्यास्त में दमकते हैं;
और अब क्या पूर्व के लोग उसके बदले यहां आएंगे

ग्राम्य तीर्थयात्रा करने ; उनके लालबुझक्कड़ों ने देखी है
पश्चिम में बिजली की रोशनी, और वे पूजा करने आते हैं;
वे आनन्द लेते हैं हमारी भद्दी नूतन वस्तुओं में
और विज्ञान की करामातों में; क्योंकि सब वस्तुएं अपने समय में
यश की धारणा पा सकती हैं। यश धारणा है—
एक मिथ्या स्तुति, जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मा की स्तुति
करना चाहता है।[1]

मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि पूर्वीय विचारधारा का प्रमुख तत्त्व उसका सृजनशील अंतर्ज्ञान पर आग्रह है, जबकि पश्चिमी प्रणालियों की विशेषता यह है कि वे आलोचनात्मक बुद्धि पर अपेक्षाकृत अधिक भरोसा करती हैं।[2] जीवित, सुनिर्दिष्ट, व्यष्टि केवल तार्किक वस्तु से पृथक् भिन्न वस्तु है। तर्कशास्त्र की प्रवृत्ति यह होती है कि प्रत्येक वस्तु को अलग-अलग रूप में पहचान लिया जाए। परन्तु कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो अपने अस्तित्व के दो आनुक्रमिक स्थानों में ठीक वही रहती हो। बुद्धि बहती हुई धारा को बर्फ की शिला के रूप में जमा देने का यत्न करती है। सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसे जीवन में उतारा जाता है, केवल तार्किक दृष्टि से हृदयंगम नहीं किया जाता; और फिर भी हमें विचार करने, सिद्ध करने और अपने विचारों और धारणाओं को दूसरों को समझाने के लिए तर्क की आवश्यकता होती है। जहां पूर्व का यह विश्वास है कि ऐसी भी वास्तविकताएं हैं, जिन्हें स्पष्ट रूप से देखा नहीं जा सकता—और वह यहां तक मानता है कि उन्हें ऐसे रूप में सूत्रबद्ध करने के तार्किक प्रयत्न तक, जिनके द्वारा उन्हें दूसरों को जताया जा सके, उनको चोट पहुंचाते हैं—वहां पश्चिम स्पष्टता चाहता है और रहस्य से सकुचाता है। जो भी कुछ व्यक्त किया जा सके और हमारी तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए उपयोगी हो, वह

---

१. १, ५८६–५६८।

२. देखिए, लेखक के 'जीवन का एक आदर्शवादी दृष्टिकोण' पर दिए गए हिब्बर्ट व्याख्यान (१६३२), अध्याय ४।

वास्तविक है; जो अभिव्यक्त न किया जा सकता हो और निरुपयोग हो, वह अवास्तविक है। यह ठीक ही कहा गया है: "यूनानियों में प्रखरता और कौशल होते हुए भी उनमें वास्तविक धार्मिक सहजवृत्ति कम थी। इस दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक पश्चिम और अपेक्षाकृत अधिक रहस्यवादी पूर्व सदा एक-दूसरे से भिन्न रहे हैं।"[1] रहस्यवाद के प्रति प्लेटो की सहानुभूति इस बात की सूचक है कि वह एक सामान्य यूनानी से कितना दूर हटा हुआ है।[2]

पश्चिमी धर्मों में परिभाषा और रूप-निर्णय के लिए अधीरता पाई जाती है। यूनानी भावना परमेश्वर की आध्यात्मिक वास्तविकता के रूप में धारणा से, अथवा एक अव्यक्त शक्ति अथवा संसार में व्याप्त एक छाया-रूप शक्ति की धारणा से सन्तुष्ट नहीं होती। उसे अपने देवताओं को सुनिर्दिष्ट स्वभाव और सुनिश्चित शारीरिक गुण प्रदान करने ही होते हैं। उदाहरण के लिए एरोस एक सुन्दर व्यक्तिक (सगुण) देवता है। यूनानी मन का मनुष्यत्वारोपण सुविदित है।[3] उसके स्वभाव को 'सुनिर्दिष्ट करने' का ही परिणाम यह हुआ है कि उसके देवता इतने सुनिश्चित रूपों में गढ़े गए हैं, जो सुघट्य कलाकृतियों में दिखाए गए दृश्य और स्पृश्य शरीरों की भांति हैं।[4] ईसाईधर्म में ईश्वर के व्यक्तित्व पर दिया जानेवाला बहुत ज़ोर यूनानी बौद्धिकवाद से प्राप्त उत्तराधिकार है।

कोई भी बौद्धिक धर्म चित्रों का प्रमाणों के साथ, रहस्यों का कट्टर

---

१. डाक्टर स्टैनले कुक द्वारा लिखित लेख 'जीसस क्राइस्ट', 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', चौदहवां संस्करण, १९२९।

२. देखिए ईयर्प: 'द वे ऑफ द ग्रीक्स' (१९२९), पृष्ठ ४७।

३. देखिए डाक्टर फारनेल: "यूनानी धर्म का और कोई भी अंग इतना प्रमुख नहीं है, जितना कि उसका मनुष्यत्वारोप; और उसके सारे विकास और जीवनकाल में मनुष्यत्वारोप का सिद्धान्त इतना प्रभावशाली और सर्वप्रमुख रहा है कि उतना कभी किसी अन्य धर्म में नहीं पाया गया।"—'ग्रीस ऐण्ड बैबीलोन' (१९११), पृ० ११।

४. कॉर्नफोर्ड: 'ग्रीक रिलिजस थॉट' (१९२३), पृ० १२ (भूमिका)।

सिद्धान्तों के साथ घपला कर देता है। उसके लिए ज्ञान के विषय सदा वही रहते हैं, अपरिवर्तनशील किंवदन्तियां और प्रतीक तो केवल नकाब या मुखौटे-मात्र होते हैं। वह शब्दों पर चलता है और उनके अर्थ को नहीं समझ पाता।[1] इसका परिणाम होती है—निरंकुशता; और उसके साथ-साथ लगा होता है किसी विश्वास या किसी कर्मकांड के आधार पर बना कोई संगठन। कोई संगठित धर्म अथवा चर्च उस प्रत्येक विश्वास का विद्वेषी होता है, जो उसके अपने मत या विश्वास का विरोधी हो। यदि नया ज्ञान पुराने विश्वासों के लिए खतरा बनता है, तो उस ज्ञान को ही कष्ट उठाना पड़ता है। कोई भी संगठित धर्म (चर्च) अपनी सीमाओं के अन्दर, अथवा ठीक कहा जाए तो अपनी सीमाओं के बाहर भी, विचार-स्वातन्त्र्य की अनुमति नहीं दे सकता। वह विश्वासों को बलपूर्वक लादने और अविश्वास पर अत्याचार करने के लिए सिद्धान्ततः विवश होता है। यदि यूनान का सुन्दर नाम किन्हीं धार्मिक युद्धों के कारण कलंकित नहीं हुआ, तो उसका कारण यूनान का बहुत देवतावाद ही था। यूनानी लोगों का यह हठ नहीं है कि यदि हम ज़ियस को किसी अन्य नाम से पुकारें, तो हमें अनन्त नरकवास करना पड़ेगा।

पूर्व में धर्म आत्मिक जीवन अधिक है। यह मनुष्य की विश्व में

---

१. धर्म-विज्ञान के सम्बन्ध में मेफिस्टोफिलीज़ कहता है : "मोटे तौर पर कहा जाए तो शब्दों को पकड़े रहिए; आप तब सुरक्षित दरवाज़े में से होकर सुनिश्चितता के मंदिर में पहुंच जाएंगे।" जब शिष्य यह सुझाव प्रस्तुत करता है कि "शब्द के साथ जुड़ा हुआ कोई न कोई अर्थ भी अवश्य होगा", तो मेफिस्टोफिलीज़ उत्तर देता है : "ठीक है, परन्तु हमें उसके विषय में बहुत चिन्ता न करनी चाहिए; क्योंकि जहां अर्थ विफल हो जाता है, ठीक उसी अवसर पर शब्द हमारी सहायता करता है। शब्दों के द्वारा वाद-विवाद बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता है, शब्दों द्वारा कोई व्यवस्था या प्रणाली भी गढ़ी जा सकती है। शब्द विश्वास के लिए एक बहुत बड़ा विषय है; शब्द में से एक बिन्दी तक भी निकाल पाने की गुंजाइश नहीं है।"

विद्यमान सत्य, प्रेम और सौन्दर्य की भावना के साथ एकता की अनुभूति है। इस प्रकार के दृष्टिकोण में बौद्धिक प्रस्थापनाओं पर बहुत अधिक बल नहीं दिया जाता। यह उनको इस रूप में स्वीकार करता है कि वे वास्तविक को सरल रूप में प्रस्तुत करने के अधकचरे प्रयत्न हैं। इसका यह विश्वास है कि दैवीय तत्त्व अक्षय है और उसकी अभिव्यक्ति असंख्य रूपों में संभव हैं। अभिव्यक्ति से भी 'परे' कुछ है, जिस तक कोई अभिव्यक्ति नहीं पहुंच सकती, हालांकि वह परे विद्यमान वस्तु सब अभिव्यक्तियों को सप्राण बनाती है और उन्हें तत्त्व और महत्त्व प्रदान करती है। इज़राइल और डेविड के सामों (गीतों) से शताब्दियों पहले हम एक अज्ञातनामा मिस्रवासी कवि की प्रार्थना सुनते हैं, जो परमात्मा को मित्र या रक्षक के रूप में, अथवा मनुष्य की शक्ल में गढ़े गए रूप में, अथवा पाषाण की प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित प्रतीक के रूप में सम्बोधित नहीं करता। "वह दिखाई नहीं पड़ता ; उसके न तो कोई पुजारी हैं और न कोई नैवेद्य; उसकी पूजा मंदिरों में नहीं की जाती; उसका निवासस्थान किसीको ज्ञात नहीं है। उसके किसी मंदिर में रंग-बिरंगी मूर्तियां नहीं हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो उसे संभाल सके। उसका नाम स्वर्ग में भी अज्ञात है और उसका रूप अव्यक्त है। इसलिए उसकी प्रत्येक मूर्ति व्यर्थ है। उसका घर यह सारा संसार है, मनुष्य के हाथों द्वारा निर्मित कोई स्थान नहीं।" धार्मिक रूढ़ियां उतनी सत्य नहीं होतीं, जितनी कि वे द्योतक होती हैं। अर्थ को बाह्य प्रमापों द्वारा नहीं मापा जा सकता। किसी धार्मिक विचार या प्रतीक के ठीक अर्थ को हृदयंगम करने के लिए हमें उस मूल्य या मान्यता को खोज निकालना होगा, जिसे कि वह अभिव्यक्त करता है और उपलब्ध करता है। आत्मा किसी भी रूप के साथ नहीं बंधी हुई, भले ही वह रूप कितना ही पर्याप्त क्यों न हो। पूर्वीय धर्म कट्टर सिद्धान्तवादी नहीं हैं और सामान्यतः उनके अनुयायियों में वह वस्तु पाई जाती है, जिसे आध्यात्मिक शिष्टाचार कहा जा सकता है। वे अच्छाई का केवल इसलिए तिरस्कार नहीं कर देते कि वह सर्वोत्तम नहीं है। वे व्यक्ति का उस रूप में आदर करते हैं, जैसा कि वह है; और यह आग्रह

नहीं करते कि जब वह स्वयं सुधार के लिए अनिच्छुक भी हो, तब भी उसका सुधार किया ही जाए। न केवल स्वर्ग में अनेक प्रासाद हैं, अपितु उन प्रासादों तक पहुंचने के वाहन भी अनेक हैं। हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म इस बात को स्वीकार करते हैं कि श्रद्धा के प्रत्येक रूप में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य विद्यमान है, जिसका एक कुछ संदिग्ध-सा परिणाम यह हुआ है कि इन धर्मों की परिधि में सब प्रकार की विदेशी पूजा-पद्धतियां और अन्ध-विश्वास पाए जाते हैं।

अलग-अलग बातों पर ज़ोर देने का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि पूर्व में धर्म आध्यात्मिक परिष्कार की वस्तु अधिक और पांडित्यपूर्ण विद्वत्ता की वस्तु कम है। हम सत्य को आलोचना और वाद-विवाद द्वारा नहीं, अपितु जीवन को गंभीर बनाने और चेतना के स्तर को बदलने के द्वारा सीखते हैं। परमात्मा सर्वोच्च ज्ञेयरूप नहीं है, अपितु वह सर्वोच्च अस्तित्व है, जिसे कि अनुभव किया जाना है। यहां निष्क्रियता वाले गुणों पर ज़ोर दिया जाता है, जैसे मननात्मक शान्ति और आत्मिक बल, जो आत्मसंयम का, और काम, क्रोध व चिन्ता के विरुद्ध संग्राम का परिणाम हैं। धर्म जीवन की प्रमुख वस्तु है, जो जीवन का प्रकाश और जीवन का विधान है। हिरात का शेख अब्दुल्ला अन्सार अपने शिष्यों से कहा करता था : "आकाश में उड़ना कोई चमत्कार नहीं है, क्योंकि गन्दी से गन्दी मक्खियां भी आकाश में उड़ सकती हैं। पुल या नाव के बिना नदियों को पार कर जाना भी कोई चमत्कार नहीं है, क्योंकि एक मामूली-सा कुत्ता भी ऐसा कर सकता है। परन्तु दुःखी हृदयों को सहायता देना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा लोग किया करते हैं।" पूर्वीय धर्म ऐसे आत्मिक धैर्य और आत्मिक विनम्रता पर ज़ोर देते हैं, जोकि भय से नहीं, अपितु एक ऐसी शक्ति से उत्पन्न होते हैं, जो भीड़ में धक्का-मुक्की करके औरों से आगे निकल जाने से इन्कार कर देती है।

## ५

# निवृत्तिमार्ग बनाम प्रवृत्तिमार्ग

सबल जीवन और सक्रिय सेवा पश्चिम को अधिक रुचती है। उसकी दृष्टि में जीवन एक ऐसी वस्तु है, जिसपर अधिकार किया जाना है और जिसका आनन्द लिया जाना है। बुद्धिमत्ता इस बात में है कि परलोक में किसी अज्ञात, अप्राप्य, असीम सन्तोष की व्यर्थ आशा न लगाकर इस जीवन का अधिक से अधिक सदुपयोग किया जाए और इसे सर्वोत्तम प्रयोजन में लगाया जाए। जीवनी शक्ति अपने-आपको दृश्य जगत् में प्रकट करती है और यह ब्रह्मांडीय प्रक्रिया मनुष्य के लिए ही अभिप्रेत है। व्यष्टि आत्मा की स्वतंत्र शक्ति और सम्मिलित समुदाय का संगठित संकल्प महान उन्नतिकारी शक्तियां हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण से व्याख्यात व्यष्टिक व्यक्तित्व का विकास और राष्ट्रीय दक्षता आदर्श लक्ष्य हैं। सदाचार परम्पराओं के प्रति अनुकूलता का नाम है। यह एक उपयुक्तता अथवा शालीनता की, जनमत के सम्बन्ध में प्रतीति को बनाए रखने की भावना है। सुनहला मध्यम मार्ग नैतिक सिद्धान्त को यूनानियों की देन है। सब मामलों में 'अति' त्याज्य है, चाहे फिर वह आनन्द अथवा शक्ति के विषय में हो, या सम्पत्ति, या ज्ञान के विषय में हो। उतावलापन उतनी ही बड़ी बुराई है, जितनी कि कायरता। तपस्या उतनी ही बड़ी बुराई है, जितनी कि विलासिता। यूनानियों की दृष्टि में पवित्रता विवेक है।

पूर्व में धर्म आन्तरिक जीवन का सुसंस्कार करना है। यह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है और मूलतः एक व्यक्ति की व्यक्तिगत उपलब्धि है, जो पर्वतशिखरों पर या मठों में, एकान्त और निर्जनता में कठोर प्रयत्न द्वारा प्राप्त की जाती है। पौरस्त्य मन को सत्ता और उपभोग के जीवन की अपेक्षा कष्ट के ऊपर विजय पानेवाले बुद्ध की शान्ति और करुणा, ब्रह्म की समाधि में लीन विचारक का चिन्तन, लोकोत्तर ब्रह्म के प्रेम में मग्न भक्त का उल्लास, अहंकारपूर्ण इच्छाओं और आवेशों से ऊपर उठे हुए

सन्त का दिव्य ब्रह्म के प्रति आत्मसमर्पण कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है।

पश्चिम में धर्म एक सामाजिक तत्त्व है, एक धर्म-मंडल का, समुदाय का विषय। यूनानी नैतिकता मूलतः जनजातीय थी। यूनानी लोग केवल उन लोगों के प्रति कर्तव्यों को स्वीकार करते थे, जिनके साथ वे किन्हीं विशेष सम्बन्धों द्वारा बंधे होते थे; परन्तु शेष मानव-जाति के प्रति, मनुष्य के रूप में मनुष्य के प्रति वे केवल उन्हीं सामान्य कर्तव्यों को मानते थे, जो भद्रता की भावना के कारण उनपर लादे गए होते थे। पश्चिम में धर्म सामाजिक स्थायित्व का एक साधन है और नई बातों के प्रचलन के विरुद्ध एक ढाल के रूप में है। देवता सामाजिक रीति-रिवाजों के जन्मदाता हैं। उन उत्सवों पर ज़ोर दिया गया है, जो समूहों को परस्पर संगठन में बांधते हैं। अच्छे नागरिक अच्छे आस्तिक हैं और जो नियमों का उल्लंघन करते हैं, वे नास्तिक हैं। स्वभावतः राज्य एक धर्ममंडल (चर्च) बन जाता है और उसके रक्षक धार्मिक दृष्टि से सम्माननीय समझे जाते हैं। हरक्यूलिस और थीसियस मनुष्य थे, जिन्हें कि देवता समझा जाने लगा। सिपियो ऐफ्रीकैनस का दैवीय सम्मान किया गया था और जूलियस सीज़र की प्रतिमा को देवताओं के समारोहपूर्ण जलूस में निकाला गया था। रोमन सम्राटों को उनकी मृत्यु के पश्चात् सर्वदेवमन्दिर में स्थापित कर दिया जाता था। पेरीक्लीज़ के महान अन्त्येष्टि-भाषण में, जिसे कि यूनानियों के सर्वोच्च धर्म की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, यूनानी देवताओं का कोई उल्लेख ही नहीं है। ऐथन्स के लिए युद्ध करना ऐथीन के लिए युद्ध करना है। यूरीपिडीज़ ने थेबनों के विरुद्ध हुए महान युद्ध में अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करते हुए थीसियस के मुंह से ये शब्द कहलवाए हैं : "ऐथन्स के पुत्रो, यदि तुम ड्रैगन के दांतों से उत्पन्न लोगों के मज़बूत भालों को रोक नहीं सकते, तो समझ लो कि पैलास का पक्ष परास्त हो गया है।"[1] डाक्टर फारनेल का कथन है कि "जिन धर्मों का कोई भी अभिलेख प्राप्त होता है, उनमें से

१. फारनेल : 'द हायर ऐस्पेक्ट्स ऑफ ग्रीक रिलिजन' (१९१२), पृष्ठ ८०।

कोई भी इतना अधिक राजनीतिक नहीं था, जितना कि यूनानी धर्म।"[1] जो पूजा-पद्धतियां सामाजिक सद्भाव को बढ़ाती हैं, उन सबको क्षम्य माना गया है। गिबन ने अपनी पुस्तक 'डिक्लाइन ऐंड फॉल ऑफ द रोमन एम्पायर' (रोमन-साम्राज्य का ह्रास और पतन) में बताया है कि रोम के मजिस्ट्रेट "उन सार्वजनिक उत्सवों को बढ़ावा देते थे, जो लोगों के रहन-सहन को मानवोचित बनाते थे। वे भविष्यवाणी की कला का उपयोग नीति के सुविधाजनक साधन के रूप में करते थे और वे इस उपयोगी धारणा का समाज के दृढ़तम बन्धन के रूप में आदर करते थे कि बदला लेनेवाले देवता शपथ-भंग के अपराध का दंड इस जन्म में या अगले जन्म में अवश्य देते हैं! परन्तु जहां वे धर्म के इन सामान्य लाभों को स्वीकार करते थे, वहां उनका यह भी विश्वास था कि पूजा की विभिन्न पद्धतियां समान रूप से एक ही वांछित प्रयोजन को पूरा करती हैं और यह कि प्रत्येक देश में उस अन्धविश्वास का स्वरूप, जो समय और अनुभव द्वारा स्वीकार किया जा चुका है, वहां की जलवायु और वहां के निवासियों के लिए सबसे अधिक अनुकूल होता है।" यूनानी सहिष्णुता राजनीतिक अवसरवादिता का परिणाम है, सुविचारित विश्वास नहीं। यूनानियों का बहुदेवतावाद और उनकी राजनीतिक बुद्धि असहिष्णुता के विरुद्ध उनकी सुरक्षा थे। यदि सुकरात पर अत्याचार किया गया, तो वह इसलिए कि वह राज्य के लिए खतरा था। पश्चिम में धर्म एक प्रकार के रहस्यवादी राष्ट्रवाद के साथ घुलमिल-सा गया है। पूर्वीय धर्मों में सार्वभौमता का तत्त्व प्रमुख है।

उपनिषदों की अहिंसा और बुद्ध की करुणा तथा प्रेम अपनी दयापूर्ण बांहों में प्राणी-जगत् के निम्न से निम्न रूपों को भी समेट लेते हैं। पूर्वीय धर्मों में परलोकपरायणता की ओर झुकाव है, जबकि पश्चिम के धर्मों की विशेषता इहलोकपरायणता है। पूर्वीय धर्मों का लक्ष्य सन्तों और नायकों को तैयार करना है: पश्चिमी धर्मों का लक्ष्य ऐसे मनुष्य तैयार करना है: जो समझदार और सुखी हों। पूर्वीय धर्म समाज को बनाए

१. 'ग्रीस ऐंड मैसेडन' (१६११), पृष्ठ २१।

रखने की अपेक्षा व्यक्ति की आत्मा की मुक्ति के लिए अधिक प्रयत्नशील हैं। पश्चिम के धर्म धर्म को सामाजिक सुव्यवस्था के लिए एक प्रकार की पुलिस-व्यवस्था के रूप में बदल लेते हैं। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद जैसे पूर्व के महापुरुषों ने संसार को एक नये चक्र में प्रवर्तित किया और आन्तरिक परिवर्तन किये। उनकी देन मनुष्यों के मन के वस्त्र में ताने-बाने की तरह बुनी हुई है। सीज़र, क्रॉमवेल और नैपोलियन सांसारिक मनुष्य थे : उन्हें जो सामग्री प्राप्त हुई, उससे कार्य करके ही वे सन्तुष्ट रहे और उसे उन्होंने सुव्यवस्थित और शालीन रूप दिया। उन्होंने जीवन का कोई नया मार्ग नहीं दिखाया और उनसे दुःखियों और पीड़ितों को कोई सान्त्वना भी नहीं मिली। और फिर भी हमारी सामाजिक संस्थाओं पर उनके कार्य की छाप है। पश्चिम में हमें क्रियाशील लोगों की यथार्थवादिता दिखाई पड़ती है : पूर्व में हमें कलाकार की संवेदनशीलता और सृजनशील स्वप्न-द्रष्टा की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। पश्चिमी संस्कृति का आदर्श, जो यूनानी दर्शन से निकला है, लोगों को नागरिकता के लिए इस ढंग से प्रशिक्षित करना है कि वे राज्य में और राज्य के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति को अनुभव करने में समर्थ हो सकें। पूर्व में अच्छा आदमी उसे समझा जाता है, जो सारे संसार को अपना घर समझता हो। ये दोनों ही प्रकार बहुत आवश्यक हैं, क्योंकि किसी अराजकतापूर्ण समाज में आध्यात्मिक प्रकाशना पनप नहीं सकती।

तर्कयुक्त विवेक पर बल, मानवतावादी आदर्श, सामाजिक एकता और राष्ट्रीय कार्यकुशलता, ये जीवन के प्रति पश्चिमी मनोवृत्ति के विशेषता-सूचक चिह्न हैं। पश्चिमी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण काल—यूनानी काल, कोन्स्टेण्टाइन से पहले का रोमन जगत्, पुनर्जागरण का काल और हमारा अपना काल—उस महान परम्परा के साक्षी हैं, जो तर्क और विज्ञान पर, भौतिक प्रकृति की शक्तियों के और मनःशारीरिक अंगी के रूप में मनुष्य की शक्तियों और सम्भावनाओं के सुव्यवस्थित ज्ञान पर, और उस ज्ञान के सामाजिक कार्यक्षमता और कल्याण के लिए अधिकाधिक उपयोग पर

आधारित है, जिनके द्वारा मनुष्य का लघु जीवन अधिक सरल और सुख-पूर्ण बन सकता है।

## ६

## ईसा का धर्म और पश्चिमी ईसाइयत

धर्म के प्रति पूर्वीय और पश्चिमी दृष्टिकोण और मनोवृत्ति का अन्तर तब स्पष्ट हो जाता है, जब हम ईसा के जीवन और सुसमाचारों में लिखी उसकी शिक्षाओं की नाइसीन धर्मसार के साथ तुलना करते हैं। यह अन्तर एक प्रकार के व्यक्तित्व और कट्टर सिद्धान्तों के एक समूह के मध्य, एक जीवन-प्रणाली और एक अधिविद्या की प्रणाली के मध्य का अन्तर है। अन्तःस्फुरणात्मक अनुभूति, कट्टरसिद्धान्तहीन सहिष्णुता और अनाक्रमणात्मक सद्गुणों और सार्वभौमवादी नीति के लिए आग्रह की विशेषताओं के कारण ईसा एक पूर्वीय ऋषि के रूप में सामने आता है। दूसरी ओर सुनिश्चित विश्वासों और तानाशाही कट्टर सिद्धान्तों पर दिया जानेवाला बल और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली असहिष्णुता, अनन्यता और पवित्रता का राष्ट्रीयता के साथ गड़बड़झाला—ये पश्चिमी ईसाइयत के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

ईसा का धर्म प्रेम और सहानुभूति का, सहिष्णुता और अन्तर्मुखता का धर्म था। उसने कोई संगठन स्थापित नहीं किया, अपितु वह केवल व्यक्तिगत प्रार्थना का उपदेश देता रहा। वह नाम-पट्टों और सम्प्रदायों के प्रति बिलकुल उदासीन था। उसने यहूदी और गैर-यहूदी में, या रोमवासियों और यूनानवासियों में कोई भेदभाव नहीं किया। उसने एक नया धर्म सिखाने की बात नहीं कही, अपितु केवल आध्यात्मिक जीवन को गम्भीर बनाया। उसने कोई सिद्धान्त नहीं रचे और न विचार पर विश्वास की ही बलि दी। उसने यहूदियों के धर्ममन्दिरों में शिक्षा पाई और शिक्षा

दी। वह उनके कर्मकांडों का उस सीमा तक पालन करता रहा, जहां तक कि वे मनुष्यों को आन्तरिक प्रकाश के प्रति अन्धा नहीं कर देते। उसने निष्ठा-प्रदर्शन की उक्तियों को कोई महत्त्व नहीं दिया। ईसा द्वारा उपदिष्ट सरल सत्यों और सैन्यवादी चर्च में, जिसका कि गठन सोपानतन्त्रीय था और जिसमें सदस्यता के लिए बाह्य परखें की जाती थीं, परस्पर कोई साम्य नहीं है। परन्तु जब ईसाइयत रोम पहुंची और उसने सीज़र की परम्पराओं को अपना लिया, तब परिवर्तन अनिवार्य था। जब यहूदी ज्योतिषियों और भविष्यवक्ताओं का स्थान यूनानी तर्कशास्त्रियों और रोम के कानूनवेत्ताओं ने ले लिया, तब ईसाईधर्म-विज्ञान का रूप तर्क-संगत और कानून पर आधारित हो गया। भावना यहूदियों की ही रही परन्तु उसके शब्द या धर्म-सिद्धान्त यूनानियों के हो गए और उसका राजतन्त्र और संगठन रोमनों का बन गया।[1] ईसा ने अपने जीवन द्वारा

१. डाक्टर हैच लिखता है : "यह बात मुख्यतया तीन रूपों में प्रकट हुई है : (१) इनमें से पहली बात परिभाषा करने की प्रवृत्ति थी। प्रारम्भिक ईसाई केवल परमात्मा में विश्वास करके और उसकी पूजा करके ही सन्तुष्ट थे। उन्होंने बहुत बारीकी से परमात्मा की उस धारणा की परिभाषा करने का प्रयत्न नहीं किया, जो उनकी श्रद्धा और उनकी पूजा की तह में विद्यमान थी। वे परमात्मा का विचार एक उपकारी और सर्वोच्च सत्ता के रूप में करते थे, परन्तु उन्होंने उस परमात्मा की धारणा के चारों ओर शब्दों की कोई बाड़ नहीं बनाई और तर्क की प्रक्रियाओं द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न तो उन्होंने और भी कम किया कि परमात्मा के सम्बन्ध में उनकी धारणा सत्य थी। (२) मन के दार्शनिक स्वभाव की दूसरी अभिव्यक्ति अनुमान की प्रवृत्ति थी, अर्थात् परिभाषाओं से निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति, इन निष्कर्षों को प्रणालियों में (वादों में) गूंथने की प्रवृत्ति और किन्हीं भी वक्तव्यों की उन प्रणालियों के साथ तार्किक संगति या असंगति को परखने की प्रवृत्ति। बिलकुल प्रारम्भिक ईसाइयों के पास किसी भी प्रणाली की धारणा नहीं के बराबर थी। किसी एक सत्य प्रतीत होनेवाले वक्तव्य की किसी दूसरे सत्य प्रतीत होनेवाले वक्तव्य से असंगति के कारण उनकी आत्माएं उद्विग्न नहीं होती थीं। उनके विश्वास संसार की विविधता और संसार के सम्बन्ध में मनुष्य के विचारों की विविधता को प्रतिबिम्बित करते थे। (३) स्वीकृत मतों को अपनाना पहले तो

इस बात को प्रकट किया और अपनी शिक्षाओं द्वारा इस सम्भावना को बढ़ावा दिया कि मनुष्य जिस प्रकार का जीवन सामान्यतया बिताते हैं, उससे उच्चतर प्रकार का जीवन बिता पाना सम्भव है। वह धर्म-विज्ञान और कर्मकांड की बारीकियों का विवेचन नहीं करता, अपितु यह घोषणा करता है कि परमात्मा से प्रेम या वास्तविकता की प्रकृति में अन्तर्दृष्टि और मनुष्य के प्रति प्रेम या विश्व के प्रयोजन के साथ एकात्मता धर्म के केन्द्रभूत सत्य हैं। पश्चिम में पहुंचने पर अन्तर्दृष्टि और भविष्यदर्शन का स्थान सम्प्रदायों और कट्टर सिद्धान्तों ने ले लिया और निष्कपट ईश्वरप्रेम का स्थान विद्वत्ता की जटिल सूक्ष्मताओं ने छीन लिया। चर्च के सम्मुख प्रश्न यह नहीं है कि जिन विचारों का प्रतिनिधित्व वह करता है, वे आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं या नहीं, अपितु यह है कि वे कौन-से उपाय हैं, जिनके द्वारा समाज को एकत्र संगठित रखा जा सकता है। रोमन विचारों और संस्थाओं का प्रभाव पादरियों के संगठन पर पड़ा।

## ७

## अवतार और त्रिदेववाद

ईसा की दृष्टि में पवित्रता ज्ञान का विषय नहीं है और न अज्ञान ही अपवित्रता का कारण है। उसकी सरल श्रद्धा असंस्कृत किसानों को बहुत प्रिय लगती थी। सेल्सस ने व्यंग्यपूर्वक कहा था कि ईसाई-समुदायों में प्रवेश

---

परमात्मा में विश्वास और एक पवित्र जीवन-यापन करने के प्रयत्न के समक्ष और अन्त में उससे भी उत्कृष्टतर माना जाने लगा।"—हैच: 'दि इन्फ्लुएंस ऑफ द ग्रीक आइडियाज़ ऐंड यूसेजिज अपॉन द क्रिश्चियन चर्च' (१८९०), पृष्ठ १३५–१३७। हारनैक से तुलना कीजिए: "कट्टर धर्मसिद्धान्त अपनी धारणा और विकास की दृष्टि से सुसमाचार की भूमि पर रचा गया यूनानी भावना का कार्य है।"—'हिस्ट्री ऑफ डॉग्मा', खंड १, पृष्ठ १७ (१८९६)।

के लिए नियम यह है : "कोई शिक्षित व्यक्ति इनमें प्रवेश न करे। कोई बुद्धिमान व्यक्ति इनमें न आए, कोई समझदार व्यक्ति इनमें न आए, क्योंकि इस प्रकार की बातों को हम बुरा समझते हैं ; परन्तु जो भी कोई अज्ञानी हो, जो भी कोई अबुद्धिमान हो, जो भी कोई अशिक्षित हो, जो भी निष्कपट हो, वह यहां आए। उसका यहां स्वागत है।" टर्टुलियन पूछता है : "एक दार्शनिक और एक ईसाई में, एक यूनान के शिष्य और एक स्वर्ग के शिष्य में क्या समानता है ?"[1] और फिर भी यह निष्कपट श्रद्धा, जो यूनानी स्वभाव के इतना ठीक प्रतिकूल प्रतीत होती है, जब यूनानियों द्वारा अपना ली गई तो वह एक धर्म-वैज्ञानिक प्रणाली में रूपांतरित हो गई।

यूनानियों और रोमवासियों की परमात्मा में रुचि विश्व की एक सैद्धांतिक व्याख्या के रूप में थी। असीम का ससीम के साथ सम्बन्ध यूनानी दर्शन की एक विकट समस्या थी और उसके समाधान के लिए प्लेटो और अरस्तू ने जो हल सुझाए थे, वे अस्पष्ट थे और सन्तोषजनक नहीं थे। अवतार-सिद्धांत के रूप में एक हल दिखाई पड़ता था। इसके अनुसार परमात्मा मानव-जगत् से एक निरर्थक व्यवधान द्वारा पृथक् हुआ नहीं रहता, अपितु वह वस्तुतः मानवता में प्रविष्ट हो जाता है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा मानव-जाति के साथ परमात्मा की एकता को संभव बना देता है। ईसा में हमें देवत्व और मानवत्व का मिलन दिखाई पड़ता है। कालातीत आत्मा इन्द्रियगम्य संसार में प्रविष्ट हो गई है। नाइसीन धर्मसार यूनानी अधि-विद्या की समस्या का समाधान है, यहूदी धर्म की समस्या का नहीं। इस धर्मसार की रचना से लेकर अब तक अनेक सैद्धान्तिक वाद-विवाद हो चुके हैं।

हम यह भी देखते हैं कि एक पक्का एकेश्वरवाद शनैः-शनैः त्रिदेववादी ईश्वरत्व में रूपान्तरित हो गया। यूनानी लोग केवल पिता ज़ियस की ही पूजा नहीं करते थे, अपितु देवताओं और देवियों के एक पूरे समाज की पूजा

१. हैच : 'द इन्फ्लुएंस ऑफ द ग्रीक आइडियाज़ ऐंड यूसेजिज़ अपॉन द क्रिश्चियन चर्च' (१८९०), पृष्ठ १२४ और १३४।

करते थे। यूनानी-लैटिन मूर्तिपूजा में ज़ियस की कल्पना ज्युपिटर के रूप में की गई, जो सब देवों और देवियों का नेता था और वे देवता और देवियां उससे ही दिव्यता प्राप्त करते थे। जब मूर्तिपूजक बहुदेवतावाद और यहूदी एकेश्वरवाद आपस में मिलकर एक हो गए तब एक कैथोलिक परमात्मा की धारणा विकसित हुई ; यह परमात्मा एक समाज है। रोमन सम्राटों ने, जो राज्य की नागरिकता और चर्च की सदस्यता के मध्य भेदभाव को समाप्त करना चाहते थे, स्थानीय देवी-देवताओं को लेकर उन्हें ईसाई संतों में परिवर्तित कर दिया।

रोमन साम्राज्य अत्याचार करके ईसाइयत को नष्ट करने में असमर्थ रहा। परन्तु रोम पर ईसाइयत की विजय का क्षण ईसा के सुसमाचार की पराजय का सूचक था। ईसाइयत उस सभ्यता के साथ जकड़ गई, जिसके नीचे रहकर यह पनपी। चर्च पवित्र ज्ञान का भंडार धर्म-वैज्ञानिक रहस्यों का एक प्रकार का सरोवर-सा बन गया ; अब वह निर्झर नहीं रहा।

ईसाइयत एक संहतिवादी धर्म है, जो इससे प्राचीनतर अनेक धर्मों का मिश्रण है। यहूदियों, यूनानियों और रोमवासियों ने तथा भूमध्यसागर के बन्दरगाहों में रहनेवाली जातियों ने इसमें अंशदान दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इसकी ओर से एक व्यवस्थित रूप तैयार करने की बहुत व्यग्रता के बावजूद इसमें व्यवस्थित रूप का अभाव है। एक उदाहरण के तौर पर, परमात्मा के सम्बन्ध में इसकी धारणाएं एक प्रेममय पिता से लेकर एक कठोर न्यायाधीश, एक गुप्तचर अफसर, एक कठोर अध्यापक और पादरीवर्ग के एक अध्यक्ष तक बदलती रहती हैं।

## ८

# प्रारम्भिक ईसाइयत की उदारता और परवर्ती ईसाइयत में उसका अभाव

जब एक बार धार्मिक श्रद्धा का कट्टर सिद्धांतवादी धर्मसार के साथ घपला हो जाता है, तब अनन्यता और असहिष्णुता अनिवार्य हो जाती हैं। अपने प्रारम्भिक रूप में ईसाइयत उन पश्चिमी विचारों और विश्वासों के प्रति पूरी तरह ग्रहणशील थी, जिनके सम्पर्क में यह आई थी। चौथे सुसमाचार में लोगोस (शब्दब्रह्म) के सिद्धान्त को अपना लिया गया है और यह स्थिति स्वीकार की गई है कि जो लोग ईसा की पूजा करते हैं, वे कोई नया देवता स्थापित नहीं कर रहे। चतुर्थ इंजील के लेखक को इस तथ्य के कारण कोई बेचैनी नहीं हुई कि लोगोस का सिद्धान्त मूलतः यूनानी था और उसका सम्बन्ध मूर्तिपूजकों से रहा था। कट्टरता के सिद्धान्त उसे संकीर्ण यहूदी धर्म से जकड़कर नहीं रख पाए। जस्टिन मार्टर यह कह सकता था : "प्लेटो की शिक्षाएं यद्यपि सब दृष्टियों से ईसा की शिक्षाओं से मिलती-जुलती नहीं हैं, फिर भी वे ईसा की शिक्षाओं की विरोधी नहीं हैं। कारण यह है कि सब लेखक उनके अन्दर रोपे गए शब्दब्रह्म के अन्तर्वासी बीज के द्वारा वास्तविकताओं का धुंधला-सा दर्शन कर पाने में समर्थ थे।"[1] और फिर भी चौथी शताब्दी में ईसाइयत में असहिष्णुता की मनोवृत्ति पनप गई। ईस्वीपूर्व तीसरी शताब्दी में सिकन्दरिया में प्रथम टोलेमी द्वारा स्थापित किया गया विशाल पुस्तकालय, जिसे कि उसके उत्तराधिकारियों ने खूब समृद्ध किया था, अंत में ईस्वी सन् ३८९ में ईसाई सम्राट थियोडोसियस के आदेश से नष्ट कर दिया गया, क्योंकि यह समझा जाता था कि वह मूर्ति-पूजावाद का अड्डा था।[2] कुछ शताब्दी पश्चात्, जब ईसाइयत इस्लाम के

१. 'एपोलॉजी', २, १३।

२. यह सत्य है कि यह पुस्तकालय अंशतः जूलियस सीजर की सेनाओं द्वारा सिकन्दरिया के घेरे के समय नष्ट कर दिया गया था।

सम्पर्क में आई, तब भी इसने वैसी उदार मनोवृत्ति नहीं दिखाई, जैसी कि इसकी प्रारम्भिक अवस्थाओं में थी, अपितु इसने इस्लाम से बड़ी उग्रता और धर्मान्धता के साथ युद्ध किया। यदि हम यह मान भी लें कि इस्लाम एक सैन्यवादी संगठन है, एक युद्धप्रिय बिरादरी, जिसमें कि उसके अनुयायियों पर कुरान और उसके व्याख्या-ग्रंथों द्वारा कठोर अनुशासन स्थापित किया गया है, फिर भी हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इस्लाम में भ्रातृत्व की भावना जाति और राष्ट्रीयता की सब रोकों को लांघ जाती है ; यह एक ऐसा तत्त्व है, जो अन्य अनेक धर्मों में नहीं पाया जाता। आज जब ईसाइयत भारत के धर्मों[1] के मुकाबले में खड़ी हुई है, वह फिर अनन्य आत्मसम्पूर्णता की मनोवृत्ति को अपना रही है। शुरू के दिनों में इसमें जो शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति व सहिष्णुता के तत्त्व थे, वे खत्म हो चुके हैं।

अब यह उन्नति और स्वतन्त्रता का धर्म नहीं रही है, अपितु एक संगठन का धर्म बन गई है। चर्च प्रकाशना का वाहक है और केवल प्रकाशना ही प्रामाणिक है, चर्च नहीं। पैगम्बरीय तत्त्व प्रामाणिक है और उसका सूत्रों में बांधा जाना प्रामाणिक नहीं है। चर्च कट्टर सिद्धान्तों को चालू विचार की दृष्टि से सूत्रबद्ध करता है, परन्तु वह किसी भी धर्मसिद्धान्त या सूत्र के लिए सर्वथा बौद्धिक दृष्टि से पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। अतीत का चिंतन किसी भी प्रकार वर्तमान के चिन्तन को अनावश्यक नहीं ठहरा सकता। ईसा के स्वतन्त्र और सरल धर्म तथा चर्च की कट्टर सिद्धान्तवादी प्रणाली के मध्य वैषम्य दोस्तोवस्की की पुस्तक 'करामाज़ोव बन्धु' (द ब्रदर्स करामाज़ोव) में 'महाधर्म-परीक्षक' नामक अध्याय में प्रकट किया गया है। महाधर्म-परीक्षक ईसा को बताता है कि चर्च ने उसके किए हुए काम को उलट दिया है, उसे सही कर दिया है और उसे प्राधिकार के आधार पर नये सिरे से स्थापित किया है। मनुष्यों की आत्माएं बिलकुल भेड़ों की तरह हैं और वे स्वतन्त्रता के उस भयंकर उपहार को सहन नहीं

१. "यूनानियों के धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन, कहीं अधिक चिरस्थायी और कहीं अधिक आध्यात्मिक।"—होयलैंड : 'द क्रॉस मून्ज़ ईस्ट' (१९३१), पृष्ठ ९३।

ALLAHABAD
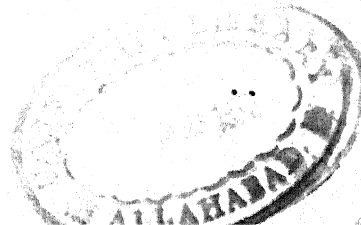
कर सकीं, जो ईसा लाया था। चर्च ने मनुष्यों को ज्ञान और स्वतन्त्र जांच-पड़ताल से दूर रखकर उनपर दया दिखाई है। उसने अपने सदस्यों को मानसिक दास बना लिया है। विश्वास करना स्वर्ग है और अविश्वास करना नरक। ज़रा थियोडोसियस द्वारा बनाए गए उस दमनात्मक कानून पर, जिसके द्वारा ईसाइयत के अलावा अन्य किसी धर्म को मानना मना कर दिया गया था और मानने पर भयंकर दण्ड दिए जाते थे, जस्टिनियन द्वारा ऐथेन्स में दर्शन से विद्यालयों के बंद कर दिए जाने पर, ऐल्बीगनेशियाई धर्मयुद्धों (जिहादों), डोमीनिकन धार्मिक न्यायालयों, एलिजाबेथकालीन इंग्लैण्ड में सर्वोच्चता और एकरूपता (सुप्रीमेसी और यूनिफार्मिटी) के कानूनों, सत्रहवीं शताब्दी में हुए धार्मिक युद्धों और बप्तिस्मा ग्रहण न करनेवाले लोगों पर किए जानेवाले अत्याचारों पर विचार कीजिए। पियस नवम ने घोषणा की थी : "हमें इस बात को पक्की तरह समझ लेना चाहिए कि कैथोलिक सिद्धांत के अनुसार केवल एक परमात्मा है, एक धर्म है, एक बप्तिस्मा है तथा (आत्माओं के भविष्य के बारे में खोज करने के सम्बन्ध में) और आगे बढ़ना पाप है।" वे दार्शनिक भी, जो सत्य के पुजारी होने का दावा करते हैं, बौद्धिक धर्मों की तानाशाही विशेषता से पूरी तरह मुक्त हो पाने में असमर्थ रहते हैं। जहां वे यह स्वीकार करते हैं कि ईसाईधर्म ही एकमात्र धर्म नहीं है, वहां वे यह भी विश्वास करते हैं कि यह (अर्थात् ईसाईधर्म) परम सत्य की परम अभिव्यक्ति है। इसमें हम देखते हैं कि शाश्वत को ऐहिक के अन्दर ठूंसा जा रहा है। जैसा कि हेगल ने कहा है : "ईसाईधर्म पूर्ण धर्म है ; यह वह धर्म है, जो परमात्मा के अस्तित्व का अनुभूत रूप में या स्वयं अपने लिए प्रतिनिधित्व करता है ; यह वह धर्म है, जिसमें धर्म अपने सम्बन्ध में स्वयं अपना लक्ष्य बन गया है।"[1] परन्तु यदि हम ईसा की शिक्षाओं के प्रति सच्ची निष्ठा रखें, तो हमें पता चलेगा कि परम सत्य सब विधि-विधानों और सम्प्रदायों से, सब ऐतिहासिक प्रकाशनाओं और संस्थाओं से परे है।

---

१. 'फिलॉसफी ऑफ रिलिजन', अंग्रेजी अनुवाद (१८९५), खंड २, पृष्ठ ३३०।

# ९

## राष्ट्रीयतावादी पक्षपात

ईसा चाहता है कि हम धर्म को अपने जीवन का प्रकाश और विधान बनाएं। उसने आनुष्ठानिक कर्तव्यों के स्थान पर एक नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया। 'एक भग्न और अनुतापयुक्त हृदय' बाह्य विधि-विधानों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है ; ये बाह्य विधि-विधान परमात्मा की सप्राण बनाने-वाली अनुभूति के बिना व्यर्थ और निष्फल वस्तु हैं। ईसा ने उन फरीसियों (पाखण्डियों) की निन्दा की, जो स्वर्ग के साथ बहुत सस्ते में समझौता कर लेना चाहते थे। परमात्मा की पुकार पिता और माता, पत्नी और पुत्र के दावों की अपेक्षा अधिक प्रमुख है। हम धर्म को अपने जीवन का रूप गढ़ने-वाली शक्ति बनाने को तैयार नहीं हैं। हम इसे यूनानियों की 'नरमी' (हलकापन) के साथ ग्रहण करते हैं। संत लोग सामान्यतया अलग प्रकार के प्राणी समझे जाते हैं जो परमात्मा की वास्तविकता को खोजने के लिए ऐहिक जगत् से दूर भागते हैं। वे प्रार्थना और भक्ति का जीवन बिताते हैं। एकांत और पृथक्ता उनके अस्तित्व का मूल हैं। पश्चिम में भी जिनपर ईसा की भावना का गहरा प्रभाव है, वे हिरनों को चारा खिलाते हैं, नक्षत्रों से वार्तालाप करते हैं और यदि वे कर्मशील हों, तो वे रोगियों की सेवा करते हैं और परमात्मा के शब्दों का प्रचार करते हैं। वे जनता से प्रशंसा पाने के लिए अथवा सामाजिक सम्मान पाने के लिए उत्सुक नहीं रहते।

ईसा के सिद्धांतों पर आचरण करने का अर्थ होगा सारी मानव-जाति का एक समाज; एक ऐसा समाज, जिसमें हम एक-दूसरे का भार वहन करते हैं और एक-दूसरे से आनन्द और कष्ट में सहानुभूति रखते हैं। इस प्रकार का समाज राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विताओं और औद्योगिक प्रतियोगिताओं से रहित होगा, क्योंकि वह उन बाह्य वस्तुओं को बहुत कम महत्त्व देगा, जिनमें कि एक मनुष्य का लाभ दूसरे मनुष्य की हानि होता है ; परन्तु हम नीतिशास्त्र का इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं।

ईसा हमें चेतावनी देता है कि यदि हम अपनी आत्मा को गंवाकर सारे संसार को भी प्राप्त कर लें, यदि हम अपने दृढ़ विश्वासों के मूल्य पर संसार के साथ समझौता कर लें, तो उसका कोई लाभ नहीं है। आन्तरिक सत्यनिष्ठा और आध्यात्मिक ईमानदारी परम आवश्यक हैं। आज का धार्मिक नेता परमात्मा के निकट उतना नहीं होता, जितना कि वह राष्ट्र का सेवक होता है। सेण्ट जोन (जोन ऑफ आर्क) का स्पष्ट मत था कि जो कोई फ्रांस पर आक्रमण करता है, वह परमात्मा पर आक्रमण करता है। उसने घोषणा की कि फ्रांस सदा सत्य के पथ पर रहा है, फ्रांस सदा परमात्मा के पक्ष में रहा है और फ्रांस का विरोध करना सत्य का और परमात्मा का विरोध करना है। ईसाइयत का सम्बन्ध राष्ट्रीयतावादी धर्म के साथ जुड़ गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य अपने-आपमें एक उद्देश्य है; एक ऐसा उद्देश्य, जिसके कि सत्य और नैतिकता, न्याय और सभ्यता अनिवार्य रूप से अधीन हैं। चर्च राज्य का दास बन गया है। गत महायुद्ध में केवल क्वेकरों को छोड़कर बाकी शान्तिवादी लोग अधिकृत चर्चों से बाहर थे। ईसा ने सुसमाचार को यहूदी राष्ट्रीयतावाद के साथ जोड़ने के विरुद्ध प्रतिवाद किया था। ऐंग्लिकन चर्च ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ उसी तरह जुड़ा हुआ है, जैसेकि रूस में यूनानी चर्च ज़ारशाही के साथ जुड़ा हुआ था। ईसाइयत के राष्ट्रीय चर्च ईसा के सुसमाचार के विरुद्ध खुले विद्रोह के रूप में हैं। ईसा की शिक्षाओं को, जिस रूप में कि वे पश्चिम द्वारा प्रस्तुत की गई हैं, लोगों ने आत्मसात् नहीं किया है। यदि चर्च के अनुयायी ईसा के सुसमाचार का गम्भीरता से पालन करना चाहते हैं, तो चर्च के उच्च पदाधिकारी चिन्तित हो उठते हैं, हालांकि वे धुंधली बत्तियों से आलोकित चर्चों की धुंधले शीशे-वाली खिड़कियों में एक सजावट के प्रतीक के रूप में ईसा का उपयोग करने के लिए पूरी तरह लालायित हैं। इमर्सन ने कहा था कि प्रत्येक स्टोइक (विरक्त) स्टोइक होता है, परन्तु ईसाई-जगत् में ईसाइयों को खोज पाना कठिन है। नीत्शे ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि संसार में केवल एक ही ईसाई था और वह क्रास पर चढ़कर मर गया।

१०

## धर्म और धर्म-विज्ञान

जहां धर्म की धारा पूर्व से पश्चिम की ओर बही है, वहां धर्म-विज्ञान की धारा इससे ठीक उल्टी दिशा में बही है। पश्चिम के बौद्धिक धर्म में, जिसमें कानून, व्यवस्था और परिभाषा के प्रति प्रेम पाया जाता है, अनेक महत्त्व-पूर्ण अच्छाइयां हैं और साथ ही कुछ दोष भी हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कि पूर्व के अन्तःस्फुरणात्मक धर्मों में हैं। इनमें से एक जनसाधारण में समझदारी, ज्ञान और अनुशासन भरता है; दूसरा स्वतन्त्रता, मौलिकता और साहस प्रदान करता है। आज यदि शुष्क आलोचना और अधिकारपूर्ण निर्णय का स्थान पारस्परिक मूल्यांकन ले ले, तो इन दोनों के मिलन से एक सुदृढ़ आध्यात्मिक एकता का मार्ग विशद हो सकता है। पूर्व में आध्यात्मिक जीवन के प्रति अतिरंजित आदर उन भौतिक दशाओं के प्रति उदासीनता के रूप में प्रकट हुआ है, जिनके होने पर ही आध्यात्मिक संकल्प को क्रियान्वित किया जा सकता है। पूर्वीय आध्यात्मिकता निष्प्राण रूढ़ियों के रूप में, जोकि जीर्ण हैं और भ्रष्टता को लानेवाली हैं, पत्थर बन चुकी है। हमारे पुराणपन्थी पंडित इस समस्या को विद्वानों की दृष्टि से देखते प्रतीत होते हैं; वे तथ्यों और सत्यों का सहारा न लेकर शब्दों और मूल-ग्रंथों का सहारा लेते हैं। हमारे क्रांतिकारी लोगों को, जिनके मन पहल करने की दृष्टि से बिलकुल अनुर्वर हैं और जो सप्राण अनुभव से अछूते हैं, पश्चिम की घटिया नकलें करने में आनन्द आता है। पश्चिम के धर्म की उत्कृष्टता इस तथ्य में निहित है कि वहां व्यक्ति अपनी मुक्ति दूसरों की सेवा करके प्राप्त करना चाहता है। भगवान के साथ सान्निध्य स्थापित करने के यत्न में एकान्त-सेवी हो जाना काफी नहीं है। धर्म केवल जीवन से ऊपर उठना ही नहीं है, अपितु जीवन का रूपान्तर करना भी है। सच्ची पूजा दुःखी मानवता की सेवा में है। धर्म के रूप में धर्म इस विस्मयकारी सिद्धान्त का समर्थन करता है कि प्रत्येक मानवीय आत्मा का अमित मूल्य है। सब आत्माओं की सचेत

समानता का ग्रानन्द मनुष्य ग्रौर मनुष्य के मध्य व्यवधानों को समाप्त कर देता है। सच्चा धर्म मानव-जाति की एकता की ग्रन्तर्दृष्टि द्वारा ग्राध्यात्मिक समाज के निर्माण के लिए कार्य करता है। यह राष्ट्रों या महाद्वीपों की सीमाग्रों में नहीं बंध सकता, ग्रपितु इसे समूची मानव-जाति को ग्रपनी बांहों में समेट लेना होगा। मनुष्य के प्रति इस प्रेम की यह मांग है कि हम ग्रन्य व्यक्तियों के विश्वासों का ग्रादर करें; यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी दृष्टि से पूर्वीय धर्म पश्चिम के धर्मों की ग्रपेक्षा ग्रधिक उत्कृष्ट हैं। यह सामान्य मानवीय इच्छा होती है कि ग्रपने विचारों ग्रौर प्रमापों को ग्रपने साथी मनुष्यों के ऊपर थोपा जाए। इस प्रकार की मनोवृत्ति के साथ हम सभीकी एक कुत्सित सहानुभूति रहती है। सच्ची सम्मति के प्रति, विशेष-रूप से तब जबकि वह सम्मति मानव-जाति की ग्राध्यात्मिक ग्राकांक्षाग्रों से सम्बद्ध हो, तिरस्कार से बढ़कर घृणित वस्तु ग्रौर कोई नहीं है। ग्राज हम उस प्रकार शब्दों के दास नहीं हैं, जैसे कि हम कभी थे। ग्रब हम नामों की पृष्ठभूमि में विद्यमान जीवन को देख पाने में समर्थ हैं। वह समय, जितना हममें से कई ग्राशा करते हैं, उससे जल्दी ग्रा सकता है, जबकि गिरजाघर, मस्जिदें, ग्रौर मंदिर सब सद्भावनावाले लोगों का स्वागत करेंगे, जब पारस्परिक साहचर्य ग्रौर सेवा के लिए ईश्वर-भक्ति ग्रौर मनुष्य के प्रति प्रेम ही एकमात्र ग्रावश्यक शर्त होंगी, जब समूची मानवता भले ही एक नाम द्वारा न सही, किन्तु एक भावना द्वारा बंधी होगी। वाल्टर पेटर ने ग्रपनी पुस्तक 'दि रैनेसांस' (नवोत्थान) में एक कथा दी है कि जब जेरुसलम की भूमि से एक जहाज़ में भरकर लाई गई पवित्र मिट्टी पीसा में कैम्पो साण्टो की सामान्य मिट्टी से मिल गई, तो उससे एक नया फूल पैदा हुग्रा, जो उससे पहले मनुष्य द्वारा देखे गए सब फूलों से भिन्न था—उस फूल के रंगों का मेल विलक्षण था ग्रौर उसके तन्तु बहुत सुन्दर रूप में सम्मिश्रित थे। क्या यह संभव नहीं कि ग्रागामी युगों में पूर्वीय ग्रौर पश्चिमी धर्मों के मिश्रण से एक ग्रनुपम सौंदर्य ग्रौर प्राचुर्य का एक ऐसा ही फूल खिल उठे?

तीसरा व्याख्यान

# प्रलय और सृष्टि[1]

"और पृथ्वी रूपरहित और शून्य थी; और समुद्र के मुख पर अन्धकार छाया था; और ईश्वर की आत्मा जल के ऊपर गति कर रही थी।"[2] 'सृष्टि की पुस्तक' (बुक ऑफ जेनेसिस) की बहुत प्रतिकूल आलोचना हुई है और उसमें पाए जानेवाले सृष्टि के वर्णन की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत कड़ी छानबीन की गई है। ईसाई पादरी अपने रविवारीय प्रवचनों के लिए निरन्तर इससे सामग्री पाते रहे हैं और यदि विज्ञान और धर्म के मध्य चलने-वाला वाद-विवाद सदा के लिए समाप्त हो जाए, तो मेरी जैसी स्थितिवाले लोगों के लिए वह बहुत कठिनाई का समय होगा।

## १

## विज्ञान और धर्म

आज मैं 'सृष्टि की पुस्तक' में दिए गए सृष्टि के विवरण का किसी ऐतिहासिक तथ्य के रूप में अथवा अक्षरशः सत्य के रूप में प्रतिपादन करने नहीं जा रहा। धर्म विज्ञान नहीं है और यदि वह विज्ञान के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश करता है, तो अपने जोखिम पर ही करता है। जब एक बिशप लाइट-फुट ने १६१८ में एक लेख में यह घोषणा की थी कि मनुष्य को त्रयी (पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा) ने ४००४ ई० पूर्व के लगभग नौ बजे पूर्वाह्न में सिरजा

१. मैन्चेस्टर कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में नवम्बर १९२९ में दिया गया व्याख्यान।
२. 'जेनेसिस', १, २।

था, तब वह विवरणात्मक विज्ञान के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश कर रहा था और आलोचना को आमन्त्रित कर रहा था। क्योंकि इस प्रकार का विवरण देना संसार के यन्त्रजात से सम्बन्धित है, जोकि विज्ञान की समस्या है; यह संसार के रहस्य से सम्बन्धित नहीं है, जोकि धर्म का विचारक्षेत्र है।

विश्व की वैज्ञानिक व्याख्या—जोकि सारे संसार को बिलियर्ड के एक अदृश्य खेल के रूप में बदल देती है, जिसमें कि गेंदें परमाणु हैं, जो आपस में टकराती हैं और अपनी गति आगे एक-दूसरे को देती जाती हैं—केवल यह बताती है कि ये बातें किस प्रकार घटित होती हैं; यह नहीं बताती कि ये क्यों घटित होती हैं। उन लोगों तक में भी, जो यह समझते हैं कि और आगे प्रश्न करना अनावश्यक है, एक ऐसी मनोवृत्ति की अनुभूति जागरित होती है, जो अब तक उन्हें अनुभव नहीं हुई थी। वे अस्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं कि विश्व का अस्तित्व उससे कहीं अधिक गहरा है, जितना कि हमारी इन्द्रियों या बुद्धि को ज्ञात हो चुका है। विज्ञान की प्रगति से हमारी विस्मय की भावना और अपने पास-पड़ौस के रहस्य के प्रति हमारी संवेदन-शीलता किसी प्रकार घटती नहीं है। यदि हम अपने इस भ्रम को स्मरण करें कि कभी हम यह समझते थे कि हम ही सारे संसार के केन्द्र हैं और परमात्मा की सर्वोत्तम कृति हैं, तो हमें बड़ी लज्जा अनुभव होती है, क्योंकि हम तो एक मध्यम कोटि के तारे के, जो अन्य अनगिनत तारों से कहीं छोटा है, ग्रह-मण्डल के अस्थायी निवासी-मात्र हैं।

जो लोग उच्चतर धर्मों की ब्रह्मांड-सम्बन्धी कल्पनाओं से सुपरिचित हैं, वे जानते हैं कि कुछ ऐसी समान परम्पराएं हैं, जिनका इन धर्मों ने उपयोग किया है। परम्पराएं सुघट्य होती हैं और उनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वस्तु होती है, जितनी कि ऊपर से दिखाई पड़ती है। वे आध्यात्मिक विचारों की वाहक होती हैं और यदि हम आज उनका उपयोग करते हैं, तो वह केवल उस आध्यात्मिक महत्त्व के कारण, जिसकी कि वे द्योतक हैं। हमारे **मूल ग्रन्थ** अन्य बातों के साथ-साथ इस विश्व की अपर्याप्तता के और एक सर्वोच्च लोकातीत आत्मा पर इसकी निर्भरता

के प्रतीक हैं । यह विश्व अपने-आपमें यथेष्ट नहीं है; यह एक गम्भीर अथाह रहस्य है; इसकी व्याख्या की जानी चाहिए और यह व्याख्या केवल एक सर्वोच्च बुद्धि और प्रयोजन के रूप में की जा सकती है; ये सब बातें इस वर्णन में मान ली गई हैं। ऐरिस्टोफेनीज़ के 'दि क्लाउड्स' (बादल) में बूढ़ा स्ट्रेप्सियेडीज़ सुकरात से पूछता है : "वह कौन है, जो वर्षा भेजता है ? वह कौन है, जो बादलों में गरजता है ?" और दार्शनिक सुकरात उत्तर देता है : "ज़ियस नहीं, अपितु बादल।" स्ट्रेप्सियेडीज़ पूछता है : "परन्तु ज़ियस के सिवाय और कौन बादलों को चला सकता है ?" इसके उत्तर में सुकरात कहता है : "ज़रा भी नहीं; यह तो वायुमण्डल का बवंडर है।" स्ट्रेप्सियेडीज़ सोचते हुए कहता है : "बवंडर ! मुझे मालूम नहीं था कि ज़ियस गुज़र चुका है और अब उसका पुत्र बवंडर उसकी जगह शासन कर रहा है"; और इस प्रकार वह बूढ़ा मनुष्य बवंडर पर चेतना का आरोप करके अपने-आपको सन्तोष दे लेता है। ज़ियस के स्थान पर बवंडर को अथवा परमात्मा के स्थान पर प्रकृति को या जीवनशक्ति (ऐलां वाइताल) को रखकर हम भी वही बात करते हैं। आधुनिक विज्ञान ज्ञान के इन प्राचीन शब्दों का विरोधी नहीं है : 'प्रारम्भ में, परमात्मा'। एक प्रमुख वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने बताया है कि खगोलशास्त्री को यह विश्व एक विशाल यन्त्र की अपेक्षा एक महान विचार अधिक प्रतीत होता है और इसका रचयिता एक कारीगर की अपेक्षा एक गणितज्ञ अधिक मालूम होता है। वस्तुओं की पृष्ठभूमि में हमें एक महान मन दिखाई पड़ता है।

## २

## निराकार और शून्य

"और पृथ्वी आकाररहित और शून्य थी; और समुद्र के मुख पर अन्धकार छाया था।" सृष्टि-विषयक वैदिक मन्त्र में भी उसी जल के रूपक का प्रयोग

किया गया है—अप्रकेतं सलिलं सर्वम् । बिलकुल प्रारम्भिक दशा प्रलय की, गड़बड़ी और अव्यवस्था की, अराजकता और अनिश्चितता की दशा थी, जिससे मन को सन्तोष नहीं होता। यह घोर अन्धकार की दशा है। तारे भी नहीं चमक रहे।

"परमात्मा की आत्मा पानी के ऊपर गति कर रही थी।" एक और मंत्र में कहा गया है कि वह पानी पर 'ध्यानमग्न' थी।[१] परमात्मा की आत्मा उजाड़ और शून्य के ऊपर ध्यान कर रही थी और उसने प्रकाश और जीवन उत्पन्न किया। यह बैठकर ध्यान करने का प्रतीक परम्परागत विश्वोत्पत्ति-सिद्धान्त से लिया गया है, जिसमें कि संसार की तुलना एक अंडे से की गई है और परमात्मा को उस अंडे को सेती हुई चिड़िया माना गया है। उस पक्षी-सदृश दैवीय शक्ति की ध्यानमग्न होकर बैठने की शक्ति से ही जीवन और प्रकाश उत्पन्न हुआ है। उपनिषदों में भी हमें संसाररूपी अंडे के ऊपर बैठे हुए परमात्मा का रूपक उपलब्ध होता है।[२] इतना अवश्य है कि हमें बैठने का शाब्दिक अर्थ नहीं लेना है। तपस्, सचेत बल को ऊर्जस्वी बनाना, कठोर चिन्तन और आत्मा का अन्तर्मुख प्रयास ही वह 'बैठना' है, जिससे सारा सृजनशील कार्य उत्पन्न होता है। तपस् ही वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई महान सम्भावना वास्तविक रूप धारण करती है। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत्। "उसने तप किया ; तप करके उसने इस सबको उत्पन्न किया।"[3] यहां तपस् का अभिप्राय है—कठोर चिन्तन या मनन।[४] सुव्यवस्थित संसार पूर्णतया ध्यानमग्न होकर बैठने की, बुद्धिमत्तापूर्ण और सोद्देश्य गतिविधि की उपज है। 'सृष्टि की पुस्तक' (जेनेसिस) के पहले अध्याय में सृजन के, एक के बाद एक, गिनाए गए कार्य आत्मा की इस शक्ति

१. 'जेनेसिस' : विद्यालयों और महाविद्यालयों के लिए 'कैम्ब्रिज बाइबिल'।
२. ऐतरेय उपनिषद्, १, ४; ३, २।
३. तैत्तिरीय उपनिषद्, २, ६, १ ; बृहदारण्यक उपनिषद् १, २, ६।
४. तुलना कीजिए, यस्य ज्ञानमयं तपः। "जिसका तप वस्तुतः ज्ञान है।"—मुण्डक उपनिषद्, १, १, ९।

के कारण ही हुए हैं, जो अपने-आपको पूरी तरह अनुभव करने के लिए एक के बाद एक संसार का सृजन करती है। आन्तरिक स्थितियों पर विचार करने के द्वारा हम उन्हें बाह्य रूप धारण करने देते हैं। हम जीवन को अभिव्यक्त होने में सहायता देते हैं। यह सृजनात्मक गतिविधि तब तक जारी रहेगी, जब तक कि आत्मा अन्तिम रूप से विजय प्राप्त न कर लेगी।

हम सृष्टि के आरम्भ से लेकर हमारे अपने काल तक आगे और आगे बढ़ते आए हैं। बाइबिल में कहा गया है कि शुरू में शून्य था; यह शून्य आज हमारे सामने भी है। जेरेमियाह के शब्दों में : "जब उपजाऊ स्थान उजाड़ था और उसके सब शहर टूटे पड़े थे," वह प्रलय की दशा थी (४, २६)। संसार आज भी प्रलय (अव्यवस्था) की दशा में है। उत्पादन की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई है और हालांकि वह संसार की विशाल जनसंख्या को अन्न और वस्त्र देने के लिए पर्याप्त है, फिर भी संसार में अत्यधिक दरिद्रता है। हम प्रचुर सम्पत्ति से भरे संसार में बहुत ही दयनीय जीवन बिता रहे हैं। जहां एक ओर युद्ध के ऋण, वर्तमान मन्दी और बढ़ता हुआ यन्त्रीकरण जैसे आर्थिक तथ्य असंदिग्ध रूप से राज्यों की परस्पराश्रितता को सिद्ध कर रहे हैं, वहां दूसरी ओर हम तटकरों की दीवारें और चुंगियों की बाड़ें खड़ी कर रहे हैं और राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विताओं को बढ़ा रहे हैं। चिकित्साशास्त्र ने उच्च स्तर की निपुणता प्राप्त कर ली है और हमारे लिए अधिक सरलतापूर्वक और सुख-पूर्वक जी पाना सम्भव है; और फिर भी हम स्वस्थ और आरोग्ययुक्त जीवन नहीं बिता पाते। राजनीतिक स्थिति बहुत ही विक्षेपकारी है; कारण यह है कि स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का संसार वर्तमान सभ्य मानवता की दशा के लिए उपयुक्त नहीं है। समाज की नींवें टूट रही हैं। प्राचीन सद्गुणों को पुराना कहकर तिरस्कृत किया जाता है। हमारी सामाजिक रूढ़ियों को केवल कल्पना-मात्र बताया जाता है और अब हम उनका पालन नहीं करते। हम बड़ी दरिद्रता, कष्ट व चिन्ताओं में फंसे हैं। हमारे हाथों में आकर शक्ति की महान उपलब्धियां विपत्ति और संकट बन गई हैं। भले ही शारीरिक

व्यथा और क्षुधा न हो, परन्तु उससे भी एक अधिक गहरा कष्ट विद्यमान है—आत्मा का एक कहीं अधिक उग्र रोग। हमारा संसार एक ऐसी नग्न स्त्री के समान है, जिसने अपने पुराने वस्त्र तो उतार फेंके हैं, परन्तु जो नये वस्त्र प्राप्त करने में असमर्थ रही है। इस अव्यवस्था और गड़बड़झाले में फंसकर हम इधर-उधर बहते-भर प्रतीत होते हैं। हमारे नेता वे लोग हैं, जो पुरानी परम्पराओं से लाभ उठाते हैं। चाहे हम कितनी ही चतुराईपूर्ण बातें बनाएं, चाहे हम पुराने सूत्रों को कितना ही तोड़ें-मरोड़ें, किन्तु उनसे हमें जीवन को फिर नया अर्थ देने में सहायता नहीं मिल सकती।

## ३

## स्रष्टा मानव

हम इस शून्य और उजाड़ से, इस अव्यवस्था और अन्धकार से किस प्रकार छुटकारा पा सकते हैं? मूल पाठ में बताया गया है कि हमें उस भावना का आवाहन करना चाहिए, जो प्रलय के ऊपर ध्यानमग्न थी—सत्य की भावना, प्रेम की भावना। मनुष्य को परमात्मा के समान बनाया गया है, उसकी अपनी प्रतिमा के रूप में। विशाल ब्रह्मांडीय भावना मनुष्य के अन्दर साकार हुई है। वह संसार में एक सक्रिय और सोद्देश्य शक्ति है। उसका कर्तव्य केवल समय काटना और अवसर की प्रतीक्षा करना नहीं है। जैसा कि ब्लेक के भविष्यदर्शी ने, जब उसने ऊंचे कगार पर ऐल्बियन (इंग्लैंड का प्राचीन नाम) को देखा था, कहा था : "हम कांपते हुए यहां परमात्मा को सहायता के लिए क्यों पुकार रहे हैं और अपने-आपको क्यों नहीं पुकारते, जिनमें कि परमात्मा निवास करता है?" परमात्मा के साथ-साथ मनुष्य स्वयं भी स्रष्टा है। संसार की योजना एक सहयोगात्मक सृजन की योजना है। आत्मा और समुद्र, स्रष्टा और सृष्टि एक अकेली समग्र स्थिति के द्योतक हैं, जो प्रतिक्षण बदल रही है; और विकास की कोटि उस आत्मा की कोटि

पर निर्भर है, जो उस स्थिति पर क्रिया कर रही है। परमात्मा मनुष्यों की सृजनशील गतिविधि के लिए आग्रहशील है। मनुष्यों की यह सृजनशील गतिविधि ही वह वस्तु है, जो संसार को बदलती है और इतिहास का निर्माण करती है। हमें सृजनात्मक उत्तरदायित्व के अपने हिस्से को वहन करना चाहिए। "काश प्रियतम, तुम और मैं मिलकर उसके साथ षड्यन्त्र रच सकते!" यह परमात्मा के साथ एक खुला षड्यन्त्र है जिसके लिए हमारा आह्वान किया गया है। हमारा सृजन करके परमात्मा ने हमें कार्य करने के लिए आमंत्रित किया है। हम सभ्यता को दैवयोग के भरोसे नहीं छोड़ सकते। हमें अपने-आपको परमात्मा की उस भावना के साथ एकरूप करना होगा, जो समुद्र के ऊपर गति कर रही थी; हमें स्वयं विश्व की आत्मा में प्रवेश करना होगा और उसका वाहन बनना होगा।

## ४

## मनन, कष्टसहन और चिन्तन

हम सबकी इस बात में रुचि है कि इस अव्यवस्था में एक व्यवस्था स्थापित की जाए, वस्तुओं को सुलझाया जाए। इसके लिए हमें मनन करना होगा, जो केवल कष्ट के लिए कष्ट सहना नहीं है। हमें कष्ट-सहन को एक धार्मिक विधि बना लेने की आवश्यकता नहीं है। गत महायुद्ध में लाखों लोगों ने कष्ट सहा। नब्बे लाख व्यक्तियों ने अपने प्राण गंवाए। इससे भी कहीं अधिक लोग शराब और चीनी के उपभोग से विरत रहे। परन्तु किस प्रयोजन के लिए? क्या यह विनाश उचित था? क्या यह संयम सोद्देश्य था? क्या इससे पहले की अपेक्षा अच्छी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न करने में सहायता मिली? हमें अनावश्यक कष्ट सहन करने या हुतात्मा (शहीद) बनने की खोज में अपने मार्ग से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि उचित कार्य को सरलता के साथ और आनन्दपूर्वक कर पाना सम्भव हो, तो उसे वैसे किया जाना

चाहिए। इतना अवश्य है कि हमें सही काम को करने से केवल इसलिए नहीं बचना चाहिए कि हम उसे सरलता से और आराम के साथ नहीं कर सकते। मनन का केवल कष्ट के लिए कष्टसहन के साथ घपला नहीं कर दिया जाना चाहिए, यद्यपि, जैसा कि हम देखेंगे, मनन में कष्टसहन का तत्त्व रहता है।

मनन केवल चिन्तन भी नहीं है, यद्यपि चिन्तन यह है। सृजन के कोलाहल से पहले कल्पना की शान्ति आनी चाहिए। हमें यह मालूम होना चाहिए कि तथ्य क्या है और इस बात का भी कुछ अन्दाज़ होना चाहिए कि क्या कुछ होना चाहिए। "बिल्कुल प्रारम्भ में शब्द था", इसका अर्थ यह होना चाहिए: "बिल्कुल शुरू में विचार था।" शब्द विचार की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण सृष्टि विचार का साकाररूप है। जब ताजमहल आगरा में एक भवन के रूप में बनकर तैयार हुआ, उससे पहले शाहजहां के मन में ताजमहल का एक स्वप्न विद्यमान था। दार्शनिक व्हाइटहेड ने कहा है: "कारीगर कोई पत्थर उठाकर रखें, इससे पहले ही हमारे मन गिरजाघर बना चुके होते हैं; और पहले हमारे मन उन्हें नष्ट कर चुके होते हैं, उसके बाद ही प्राकृतिक शक्तियां उनकी मेहराबों को जीर्ण-शीर्ण करके गिराती हैं।" कोई भी व्यवस्था पहले आत्मा में एक कल्पना के रूप में आती है और उसके बाद ही वह इतिहास में एक उपलब्ध तथ्य के रूप में उपस्थित होती है। सब प्रकार के सृजन के लिए यह आवश्यक है कि हम ठीक-ठीक विचार बनाएं। जो कुछ दिया हुआ है, हम उसकी केवल नकल-भर नहीं करते और न जो कुछ पुराना है, उसकी पुनरावृत्ति ही करते हैं। जो कुछ है, हम उसके परे देखते हैं; जो कुछ हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है, हम उसके परे सोचते हैं। हमारे जीवनों में एक अदृश्य व्यवस्था है, जो हममें अपने संमुख विद्यमान ससीम और पूरी हो चुकी वस्तुओं के प्रति असन्तोष जगाती है।

केवल चिन्तन हमें दूर तक नहीं ले जा सकता। शॉपनहावर का कथन है: "सब कालों के बुद्धिमान व्यक्ति सदा एक ही बात कहते रहे हैं और मूर्ख, जिनका कि संसार में बहुत विशाल बहुमत है, सब कालों में सदा एक

ही तरह से आचरण करते आए हैं, अर्थात् जो कुछ बुद्धिमान कहते रहे हैं, उसका उल्टा; और इसीलिए वाल्तेयर कहा करता था कि हम संसार को ठीक उतना ही मूर्ख और निकृष्ट छोड़ जाएंगे, जितना कि यह तब था, जब हम इसमें आए थे।" संसार सत्य के अपर्याप्त ज्ञान के कारण उतना कष्ट नहीं पा रहा, जितना कि मन के अपूर्ण नियन्त्रण के कारण, जिसके फल-स्वरूप सत्य का अनुसरण करना कठिन हो जाता है। मानवीय कार्य विश्वासों और दृढ़ धारणाओं के आधार पर चलते हैं, कल्पनाओं और विचारों के आधार पर नहीं। केवल ज्ञान शक्ति नहीं है, अपितु शक्ति श्रद्धा है। यदि हम असत्य पर भी विश्वास कर लें तो असत्यों से भी काम चल जाता है; परन्तु उनसे देर तक काम चलता नहीं रह सकता। बोल्शेविक लोग जीत जाते हैं, क्योंकि उनमें प्रेरक शक्ति, श्रद्धा होती है, जिसका सुधारकों और शान्तिवादियों में पर्याप्त मात्रा में अभाव होता है।

मनन किसी व्यक्ति द्वारा अपने सम्पूर्ण मन और सम्पूर्ण शरीर द्वारा किया जानेवाला चिन्तन है। यह समेकित चिन्तन है। यह व्यक्ति द्वारा अपने समूचे शरीर, इन्द्रियों और इन्द्रियग्राह्यता को, मन और बुद्धि को उस विचार से ओतप्रोत कर दिया जाना है। कोई क्रिया या शरीर का कोई अंग ऐसा नहीं है, जो मन या आत्मा के प्रभाव से बाहर हो। मनुष्य एक जीवनतत्त्व है, एक समग्र वस्तु; शरीर, मन और आत्मा जिसके अलग-अलग पहलू हैं। लजाती हुई कन्या के विषय में डोन की इन सुन्दर पंक्तियों में इस एकता का वर्णन है[1]:

> उसका विशुद्ध और बोलता-सा रक्त
> उसके कपोलों में बोलता था और इतना स्पष्टरूप से उत्तेजित था
> कि यहां तक कहा जा सकता था कि उसका शरीर सोचता था।

मनुष्य को केवल एक बौद्धिक प्राणी-मात्र समझने की भूल करना

---

१. 'ऐन एनाटॉमी ऑफ द वर्ल्ड', १, २४४, 'डोन्स पोयम्स' : ग्र्यूलेन, खंड १, पृष्ठ १३५।

ठीक नहीं। उसकी बुद्धि उसका सम्पूर्ण अस्तित्व नहीं है। हमें तर्क द्वारा गढ़े गए विचारों को मनुष्य के जीवन की अधोभूमि में पैठने और उसके स्वभाव, चेतना और अवचेतना के समूचे अंश को प्रभावित करने देना चाहिए। शब्द, विचार साकार बनना चाहिए। मनुष्य के समूचे मनोविज्ञान का इस प्रकार परिवर्तन, उसके समूचे अस्तित्व का इस प्रकार का रूपान्तरण, इस प्रकार की समेकित बुद्धि ही सृजनात्मक ढंग की वस्तु है। सृजन मनुष्य द्वारा अपनी विचित्र और रहस्यपूर्ण आत्मा और उसके वास्तविक कृत्यों को समझने के लिए किया जा रहा एकान्त प्रयत्न है।

## ५

## जानना और होना (चित् और सत्)

मन और हृदय के विसंवादी तत्त्वों को केवल आत्मा के एकान्त में ही समस्वर बनाया जा सकता है। संसार में उन लोगों में, जो ईश्वर में अपनी बुद्धि द्वारा विश्वास करते हैं और धर्मसार (क्रीड) के प्रथम अनुच्छेद को दुहराते हैं और उन लोगों में, जोकि अपने सम्पूर्ण अस्तित्व द्वारा परमात्मा में विश्वास करते हैं, बहुत अन्तर है। हम सामान्य व्यक्तियों में और सन्तों में भी ठीक यही अन्तर है। परमात्मा में विश्वास करना बहुत कठिन काम है। इसको कोई वीर नायक ही कर सकता है। किसी विचार को प्राप्त कर लेना मन की उस अवस्था अथवा कोटि को प्राप्त कर लेना नहीं है। सामान्यतया हमारी बौद्धिक धारणाएं हमारे वास्तविक जीवन से बिलकुल पृथक् होती हैं। हमारे वास्तविक उद्देश्य हमारे सचेत लक्ष्य नहीं हैं। हम प्रयत्न किए बिना केवल किसी उपदेश को सुनकर, किसी मंत्र का जप करके, किसी पुस्तक को पढ़कर ज्ञानी बन सकते हैं, यह एक बहुत ही मधुर स्वप्न है; परन्तु है यह केवल स्वप्न ही। हमें निरन्तर चिन्तन द्वारा विश्वास को परिपक्व होने देना चाहिए और उसे अपने ऊपर अधिकार कर लेने देना

चाहिए। यह बहुत कुछ प्राकृतिक प्रक्रिया से मिलती-जुलती एक घनिष्ठ और बाध्य करनेवाली प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी विचार को धारण करनेवाला मन स्वयं उस विचार से आच्छन्न हो जाता है।

फिर, पड़ोसी के प्रति प्रेम हममें से बहुत-से लोगों के लिए एक विश्वास की वस्तु है, परन्तु सन्तों के लिए तो यह उनके अस्तित्व का एक अंश होता है। प्रेम के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उस सबको दुहरा देना आसान है, परन्तु अपने साथियों से प्रेम करना और उनके साथ सन्तोषजनक सम्बन्ध बनाकर रहना बहुत कठिन है। प्रेम के लिए कल्पना की एक अन्वेषणशील आंख की आवश्यकता होती है और जिन लोगों में कल्पना नहीं है, उन्हें कल्पना प्रदान नहीं की जा सकती। प्रेम एक ऐसी कल्पनाप्रवण चेतना है, जिसे कि व्यक्ति को अपने आत्मिक एकान्त में विकसित करना होता है; एक ऐसी चेतना, जो स्वयं कष्ट सह लेती है और दूसरों के कष्ट को असह्य अनुभव करती है। यदि हममें इस प्रकार की चेतना का अभाव है, तो हम वस्तुतः मानव प्राणी नहीं हैं। सच्चा प्रेम समूचे संसार को अपना देश और सम्पूर्ण मानव-जाति को स्वदेश-बन्धु समझता है। इस प्रकार का प्रेम एक दुष्प्राप्य आदर्श है। कारण यह है कि हम काले आदमियों से पड़ोसी के रूप में इस सीमा तक प्रेम नहीं करते कि हम उसे दासता की दशा से छुटकारा दे दें। हम गरीब आदमी की लड़की से इतना काफी प्रेम नहीं करते कि हम उसे उस दुर्दशा से बचाएं, जिसमें कि हम अपनी लड़की के पड़ जाने की कल्पना-मात्र से ही सिहर उठते हैं। प्रेम का अर्थ है व्यक्ति द्वारा अपनेपन का और अपने प्रमापों का परित्याग। प्रेम दूसरे मनुष्य की आंखों से देखना, दूसरे मनुष्य के हृदय से अनुभव करना और दूसरे मनुष्य के मन के अनुसार समझना है।

मैं यहां बौद्ध साहित्य की अनगिनत कथाओं में से एक सुनाना चाहता हूं। एक सुन्दर युवती, जो पाशविक भावनाओं से भरी प्रकृति की एक स्वस्थ सन्तान थी, एक सुरम्य सन्ध्याकाल में बुद्ध के शिष्य उपगुप्त से मिली और उससे प्रेम जताने लगी। उपगुप्त कुछ आध्यात्मिक मनोदशा में था। उस

युवती ने उसे टोककर कहा : "मुझसे नक्षत्रों और सन्तों, संसार के कष्टों और सृष्टि के प्रयोजन की चर्चा मत करो। वे मेरे उपयुक्त नहीं हैं। मैं तो सोत्साह, स्वाभाविक, सुखमय और स्वस्थ जीवन में विश्वास करती हूं। रक्त में जो कुछ अनुभूति और विश्वास है, मेरे लिए तो वही वास्तविक है।" उस सन्ध्याकाल उपगुप्त बड़ी कठिनाई से उस स्थिति से छुटकारा पा सका। परन्तु उसने वचन दिया कि वह फिर किसी अवसर पर उसके पास अवश्य आएगा। लम्बे-लम्बे वर्ष बीत गए। सुख और मौज में, सम्पत्ति और सौन्दर्य में जीनेवाली वह तरुणी अपने अनैतिक चरित्र के कारण उन सबको गंवा बैठी। अन्त में उसका रूप नष्ट हो गया और वह सड़े हुए मांस का पुंज-भर रह गई, जिसमें जगह-जगह घाव थे, जो सड़ रहे थे और जिनसे घृणित दुर्गन्ध उठती थी। जैसे इतना ही काफी नहीं था, वह एक अपराध कर बैठी, जिसके लिए उसे यह दंड दिया गया कि उसके हाथ-पैर काट दिए जाएं। सब लोगों ने अपमानित और तिरस्कृत करके उसे नगर के द्वार से बाहर निकाला और जहां उसे अंग-भंग का दड दिया गया था, उसी स्थान पर उसे छोड़ दिया। कुछ वर्ष पहले वह एक यौवन से भरपूर युवती थी, परन्तु अब वह निर्बलता और असहायता के पुंज के सिवाय कुछ न थी। कोई विद्रोह नहीं, कोई आवेश नहीं, यहां तक कि पूर्ण अन्धकार भी नहीं ; केवल रिक्तता। वह किसीसे कुछ लेती नहीं ; किसीको अपने-आपको छूने न देती ; कोई प्रश्न सुनना न चाहती ; किसीसे परिचर्या न चाहती। इस प्रकार बिलकुल रिक्त रहकर वह प्रत्येक वस्तु के भीतर तक देख रही थी। अब उसे कोई छल न सकेगा। जिन्हें वह अपने अन्तिम क्षण समझ रही थी, उनमे प्रार्थना और मूक रुदन के बीच उसे उपगुप्त के साथ हुई अपनी भेंट का स्मरण हो आया और तभी उसने एक हलके-से स्पर्श का अनुभव किया। उसने देखा कि एक लोकोत्तर कान्ति और तेज से देदीप्यमान उपगुप्त उसे देख रहा है। उसकी आंखों में एक सुकुमार प्रेम का भाव है, जैसा कि रुग्ण शिशु के प्रति मां की आंखों में होता है। पगुप्त ने देखा कि उस स्त्री की आंखों में चिन्ता, व्याकुलता, आत्मग्लानि और दया की याचना का भाव

भरा था। वह बोली : "उपगुप्त, जब मेरी देह दमकते हुए रत्नों और वहुमूल्य वस्त्रों से सुशोभित थी और जब यह कमल के फूल के समान मधुर थी, तब मैं तुम्हारी प्रतीक्षा व्यर्थ ही करती रही। जब मैं उद्दीप्त कामना को जगा सकती थी, तब तो तुम आए नहीं ; अब तुम इस बीभत्स और घृणित, लोहू टपकाते, विकृत मांसपिंड को देखने के लिए क्यों आए हो ?" उपगुप्त ने धीरे से उसके बालों पर हाथ फेरा ; उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आन्दोलित कर दिया और कहा : "बहन, जो देखता है और समझता है, उसकी दृष्टि में तुमने कुछ भी नहीं गंवाया है। दुःखी मत होओ। विश्वास करो, मैं तुमसे प्रेम करता हूं। उन सुखों और आनन्दों की छाया की लालसा मत करो, जिन्हें तुम पा नहीं सकी हो। तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम बाह्य प्रदर्शन पर आधारित प्रेम की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा है।' उसकी आंखें चमक उठीं, उसके होंठ खुले और एक नई स्वस्थता और हृदय के हलकेपन की भावना के साथ वह उपगुप्त की शिष्या बन गई। यह इस वात का एक और निदर्शन है कि संतों का जीवन पहले उनके चरित्र के पतन से शुरू होता है। किसी कष्ट में पड़ी आत्मा को सहारा कोई महान आत्मा ही दे सकती है।

मनुष्य को सदा प्रेमपूर्ण रहना चाहिए और जिन्होंने हमें कष्ट दिया है, उनपर भी निर्दय होकर अत्याचार नहीं करना चाहिए। जब हम प्रेम करते हैं, तब हमें घृणा करने का अधिकार नहीं रहता, भले ही प्रेमपात्र कितना ही अधिक पतित क्यों न हो गया हो। यदि हम प्रेम करते हैं, तो प्रेमपात्र चाहे कुछ भी क्यों न करे, वह प्रिय ही बना रहेगा। जो लोग दीनों और अभागों को त्याग देते हैं, जो दोषी लोगों की खिल्ली उड़ाते हैं और अपराधियों को अपमानित करते हैं और उनकी विफलताओं पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं, वे सच्चा प्रेम नहीं करते। चोट खाए हुए पर और चोट करके तथा गिरे हुए को और भी कुचलकर वे पाखंडियों-सा आचरण करते हैं। असली मनुष्य हममें से बुरे से बुरे लोगों के साथ भी धीरज से काम लेते हैं। वे हमारा इतना आदर करते हैं कि वे हमारी हर बात को क्षमा कर सकें। वे हमारे लिए अनगिनत बहाने खोज निकालते हैं और हमारी देख-रेख अपना कर्तव्य समझ-

कर नहीं करते, अपितु स्वाभाविक प्रेम के कारण करते हैं। हमारी नीचताओं और दुष्कर्मों को स्मरण न रखकर वे हमें मुक्त भाव से अपना प्रेम प्रदान करते हैं और उसके बदले में कुछ भी पाने की आशा नहीं करते और न उन्हें कुछ देने की ही आवश्यकता होती है। कारण यह है कि वे जानते हैं कि कई बार असावधानी से किया गया एक ही कार्य सारे जीवन को गड़बड़ कर देता है और कोई एक ही अविवेकपूर्ण कृत्य सारे कुटुम्ब के लिए लज्जा का कारण बन जाता है। यदि कोई उदार स्वभाव उपलब्ध या उनकी ओर आकर्षित न हो, तो आहत आत्माएं झुलस और मर ही जाएं।

६

## धर्म की कीमत

हममें से अधिकांश लोग धर्म को ऐसे आसानी से संभाल लेना चाहते हैं, जैसे हम समुद्र के किनारे पड़ी सीपी को उठा लेते हैं। हममें अध्यवसायपूर्वक खोज करने का धीरज या शक्ति नहीं है। जैसे हम पुस्तकों की दुकान से पुस्तकें लेते हैं, मुर्गी पालनेवाले से अंडे लेते हैं या दवाई बेचनेवाले से दवाइयां लेते हैं, उसी प्रकार हम उपदेशक या पुरोहित से आशा करते हैं कि उससे हमें कुछ रुपये या प्रति सप्ताह एक घंटा देकर धर्म प्राप्त हो जाए। परन्तु धार्मिक बनने के लिए तो बहुत काफी मूल्य चुकाना होता है। जब से मानवीय प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है, तब से ही विचारों और संकल्पों को वास्तविक रूप देना सरल काम नहीं रहा। ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसका भारत के महान राजकुमार बुद्ध को अभाव रहा हो। उसके पास राज्य था, घर था और सोचे जा सकने योग्य सब प्रकार के सुख उसे उपलब्ध थे। उसे अपने-आपको इन सब सुखों से विरत करना पड़ा ; उन सुखों को अस्वीकार कर देना पड़ा ; हृदय की कठोरता के कारण नहीं, अपितु सत्य के प्रति प्रेम के कारण। केवल इसप्रकार वह अपनी आवेगपूर्ण प्रकृति पर विजय पा सका और अपने-आपको

संसार के लिए एक दर्पण बना सका। ईसाइयत द्वारा निरभिमानता के निमित्त आध्यात्मिक व्यक्ति पर आरोपित किया गया मानवता के कष्टों का अंगीकरण प्रत्येक व्यक्ति के सिर केवल इस तथ्य के कारण आ पड़ा है कि उसने इस संसार में जन्म लिया है। जो कोई इस कर्तव्य को समझता है और इसे पूरा करता है, भले ही उसे इसकी कीमत परिश्रम, कष्टसहन और अपने रक्त द्वारा चुकानी पड़ती हो, वह सुखी है।

## ७

## निरी शान्तिप्रियता की निष्फलता

आज हम उच्चतम पर्वत-शिखरों पर या पृथ्वी के अन्तिम छोरों पर झण्डा गाड़ने के लिए तो परिश्रम करने और कष्ट सहने के लिए तैयार हैं, परन्तु उन विचारों के लिए नहीं, जिन्हें कि हम स्वयं अनुसरणीय मानते हैं। हममें से अनेक लोग यह समझते हैं कि हम शान्ति के लिए कार्य कर रहे हैं, हालांकि शान्ति की कामना केवल एक पवित्र और सुदूर की महत्त्वाकांक्षा है, एक धुंधला और दूरस्थ विचार; वह कामना एक ऐसा ज्वलन्त विश्वास नहीं है, जिसे बनाए रखने के लिए हम अपना रक्त और जीवन देने को तैयार हों। देशभक्ति का गौरव एक ऐसी वस्तु है, जिसके लिए हम भारी कीमत चुकाने को तैयार हैं। अपनी समृद्धि के प्रति हममें जितनी अविलम्ब्यता की भावना है, उतनी शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए नहीं है। मानवता के प्रति हमारा प्रेम इतना तीव्र नहीं है कि वह देश के प्रति हमारी कट्टरता पर विजय पा सके। हमें रबड़ की कुछ राशि के लिए, या तेल के कुओं के लिए जन-समूहों का विनाश करते कोई हिचक नहीं होती। यह सोचना छलना-मात्र है कि राष्ट्र अब इतने सुशिक्षित और प्रबुद्ध हो गए हैं कि अब आगे युद्ध नहीं होंगे। यह वह रेत है, जिसमें हम अपना सिर गड़ा रहे हैं। गत महायुद्ध (प्रथम विश्वयुद्ध) में यह देखा गया था कि जन-

साधारण में बुद्धिजीवियों की अपेक्षा कुछ अधिक संवेदनशीलता थी। यह सब इसलिए है, क्योंकि हमारा विचार बिलकुल ऊपरी होता है। हम विचार नहीं करते, क्योंकि हमें डर लगता है कि कहीं वह हमें बहुत महंगा न पड़े। वह हमारी आयोजनाओं और योजनाओं को उलट-पलट कर सकता है। हम केवल वही करते हैं, जोकि दूसरा व्यक्ति करता है। भीड़ का दबाव दुर्निवार होता है। मध्ययुग में चर्च लोगों पर अत्याचार करता था, आजकल दम्भी युद्धप्रिय देशभक्त करते हैं। कुछ थोड़े-से आन्दोलनकारी और दुस्साहसी लोग समाचारपत्रों और रेडियो पर नियन्त्रण करके कानून बनाते हैं और जनसमुदाय बिना विचार किए अपनी मृत्यु की ओर कूच करता चला जाता है। हमारे संकल्प, हमारे मन हमारे अपने नहीं हैं। हमारी अपेक्षा अधिक बलशाली एक यन्त्र ने हम सबको अपना पुर्ज़ा बना डाला है। हम उन वर्दियों को पहनते हैं, जो हमारे मांस के अन्दर तक पैठी रहती हैं। इस्पात की निश्शब्दता हमारी मूल्यों की भावना को दबा लेती है। हम तथ्यों को उनके सही रूप में देख नहीं पाते। विद्वेष को इतना ग्राह्य बना दिया जाता है, और उसे इतने आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि हम उसमें आनन्द लेने लगते हैं, चाहे हमें उस वस्तु का कुछ ज्ञान ही न हो, जिससे कि हम घृणा करते हैं। यदि हम इतनी काफी घृणा नहीं करते कि हम हत्या कर सकें, तो हमें कायर कहा जाता है। जिसे अनुशासन कहा जाता है, वह हमारे सामने यह विकल्प प्रस्तुत करता है कि या तो हम मोर्चे पर जाएं, या फिर हम अवश्य मार डाले जाएं; जबकि मोर्चे पर जाने की दशा में इस बात की केवल सम्भावना-मात्र है कि हम मार डाले जाएं। हम जोखिम उठा लेते हैं और साहसी होने का श्रेय प्राप्त कर लेते हैं। हम अपने शस्त्रधारी बन्धुओं की मृत्यु की कामना करते हैं और यन्त्रों की भांति द्वेष के बिना उन लोगों की हत्या करते हैं, जिन्हें हम जानते तक नहीं और जिनके प्रति शत्रुता के लिए हमारे पास कोई भी कारण नहीं होता। युद्धकालीन अनुशासन के भयंकर चंगुल में, जो मनुष्य को विचार करने को मना करता है, जकड़े हुए हम इसलिए हत्या करते हैं, क्योंकि हमें आदेश

मिला है, इसलिए नहीं कि हमें वैसा विश्वास हो गया है। हम इतने वीर तो हैं कि कष्ट सह सकें और दुःख को स्वीकार कर सकें, परन्तु इतने वीर नहीं हैं कि अन्धविश्वास के लिए कष्ट सहने से इन्कार कर सकें। हम अपने प्रतीकों के लिए, व्यापार, सम्पत्ति, साम्राज्य के लिए, युद्ध करते हैं; उन प्रतीकों के लिए, जो पुराने पड़ गए हैं और निष्प्राण हो चुके हैं। हममें इतना साहस नहीं है कि हम उन पुराने प्रतीकों को, उन घिसी-पिटी परम्पराओं को उतार फेंकें, जो हमारे लिए बेड़ियां बन गई हैं। हम उन्हें इसलिए उतारकर नहीं फेंक पाते, क्योंकि गलत शिक्षा की प्रक्रिया शिशु-पाठशालाओं से ही शुरू हो जाती है। परम्परा और वीरगाथाओं के अति-शयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा शिक्षा के सब सचेत प्रभाव शताब्दियों से स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के गौरवगान की ओर तथा अपने राज्य के प्रति निष्ठा की सबसे सीधी अभिव्यक्ति के रूप में अन्य राज्यों के दमन की ओर प्रेरित किए जाते रहे हैं।

वे आकर्षक पुरस्कार, जो युद्ध में शस्त्र चलानेवालों को मिलते हैं, युद्ध की तड़क-भड़क, उसका वीरत्व और आत्मबलिदान, ये वस्तुएं अब भी दीन मानवता के नेत्रों के सम्मुख बिल्लों और पदकों की चमक द्वारा, किर्चों और तमगों की झनझनाहट द्वारा और विजय-तोरणों तथा सैनिक-प्रदर्शनों द्वारा आकर्षक रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। प्रशिक्षण और परम्परा के द्वारा हमें दूसरों से घृणा करने की प्रेरणा दी जाती है; ऐसी घृणा, जो हमें और हमारे विरोधियों, दोनों को खा जाती है। राष्ट्रगान के दूसरे पद के शब्दों में आदिमजातीय समाजों के उस नीतिशास्त्र को अपनाया गया है, जिसे समझा जाता है कि हम छोड़ चुके हैं। जब विद्वेष का दैत्य हमपर हावी हो जाता है, तब हम उत्तेजनाशील पुरुष और आवेशपूर्ण स्त्रियां गैडरीन के सूअरों की भांति युद्ध के गढ़ों में खदेड़ दिए जाते हैं।

## ८

# समूचे मन का परिवर्तन

हमारे अपने अन्दर विद्यमान प्रकाश के अनुसार जीवन बिताने से इन्कार करना वास्तविक पाप है ; अपने आसपास के जनसमुदाय के विचारों के अनुकूल जीवन बिताने से इन्कार करना रूढ़ पाप है । हम रूढ़ पाप से डरते हैं और इसलिए वास्तविक पाप करते हैं । मनुष्य का कर्तव्य यह है कि वह अपने अन्दर विद्यमान प्रकाश को प्रमाण माने और यदि आवश्यकता हो, तो रूढ़ियों का विरोध करे । शान्ति के लिए पहली आवश्यकता यह है कि ईमानदारी के साथ विचार किया जाए । अन्ततोगत्वा मनुष्य एक नैतिक प्राणी है और साधारणतया वह तब तक युद्ध नहीं करेगा, जब तक कि वह युद्ध नैतिक आधारों पर उचित न ठहरता हो । वह बड़े स्तुत्य उद्देश्यों की बातें करता है, जैसे संसार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाना, अपने घर-बार की रक्षा करना, अपने बाल-बच्चों का बचाव करना और संधियों की अविकलता को बनाए रखना, इत्यादि । भय और अभिमान, धन की लालसा और सत्ता की इच्छा, इन वास्तविक उद्देश्यों को छिपाया जाता है । शुरू से ही मनुष्य के अधिकांश कष्टों का कारण मनुष्यों की दुष्टता उतनी नहीं रही, जितनी कि मनुष्यों की मूर्खता । जादूगरनियों को इसलिए यन्त्रणा दी जाती थी, क्योंकि हमसे यह अपेक्षा की जाती थी कि हम उन्हें शैतान के चंगुल से बचाएं । ईसाइयत में विश्वास न करनेवाले लोगों को इसलिए जीते-जी जला दिया जाता था, क्योंकि उन्हें अनन्त काल तक नरक की यन्त्रणा से बचाने का एकमात्र यही उपाय प्रतीत होता था । हम बहुत बड़े पैमाने पर हत्या का आयोजन करनेवाले लोगों का अनुगमन इसलिए करते हैं, क्योंकि हमें यह समझा दिया जाता है कि न्याय और स्वतन्त्रता की रक्षा करने का एकमात्र उपाय यही है । हमारी घोरतम क्रूरताएं हमारी दयालुता की अभिव्यक्तियां प्रतीत होती हैं ।

युद्ध में सफलता का अर्थ सत्य की विजय नहीं है । यह सोचना केवल

भ्रम है कि यह सिद्ध करने का कि हम सही हैं, एकमात्र उपाय यह है कि हम विरोधी पक्ष के यथासम्भव अधिक से अधिक लोगों को समाप्त कर दें। हमें युद्ध की विभीषिकाओं को अनुभव करना चाहिए। हमें समझना चाहिए कि युद्ध मूलतः एक पाशविक वस्तु है, सम्पूर्ण मानवता, संस्कृति और मान्यताओं को तिलांजलि। इसके वीरत्व इसकी गौण उपजें हैं। आधुनिक दशाओं में युद्ध केवल गलती ही नहीं, अपितु अपराध है। अब क्योंकि किर्चों और राइफलों का स्थान रासायनिक पदार्थों ने ले लिया है, इसलिए विनाश सार्वभौम होगा और सैनिकों तथा असैनिकों में, पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों में कोई भेद नहीं किया जाएगा।

शान्तिप्रियता ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे कि राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) से खरीदकर लिया जा सके। मानव-जाति की नैतिक जड़ता पर विजय पानी होगी। जनसमूह को अत्याचार का विरोध करने का सामर्थ्य सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता।[1] हमें शान्तिप्रियता के विचार को एक दृढ़ विश्वास में रूपान्तरित करना होगा और उसके अनुसार जीवन-यापन करने के लिए साहस और आवेश प्राप्त करना होगा। दूसरे शब्दों में, हमारी केवल बुद्धि नहीं, अपितु हमारी सम्पूर्ण चेतना को इस कार्य में लगाया जाना चाहिए। हमें अपने सम्पूर्ण शरीर और मन से, अपनी अनुभूतियों और सहजवृत्तियों से, अपनी देह और इसकी प्रवृत्तियों से शान्ति

१. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी यूनियन ने ९ फरवरी, १९३३ को एक विशाल सभा में एक पूरे वाद-विवाद के पश्चात् १५३ के विरुद्ध २७५ वोटों से यह प्रस्ताव पास किया, "कि यह सदन किसी भी दशा में अपने राजा और देश के लिए युद्ध नहीं करेगा।" यूनियन के सभापति ने 'न्यू स्टेट्समेन एण्ड द नेशन' (१८ फरवरी, १९३२) में एक लेख में इस बात का उल्लेख किया कि यूनियन ने यह निश्चय किया है कि "युद्ध को समाप्त करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि किसी भी आगामी युद्ध में प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिशः उसका विरोध करे।" मैनचेस्टर, कार्डिफ और ग्लासगो की यूनिवर्सिटी यूनियनें भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचीं। वे सब भद्र पुरुष, जो सिद्धान्ततः युद्ध की निन्दा और व्यवहारतः उसका समर्थन करते हैं, विश्वविद्यालय के छात्रों के इस उद्धत साहस से तिलमिला उठे।

के लिए दृढ़ संकल्प करना होगा। शान्तिप्रियता के प्रति केवल बौद्धिक निष्ठा उन अचेतन संवेगों के विरुद्ध असहाय रहती है, जो हमारी चेतना को दासता में जकड़े रखते हैं। हमारी वंश-परम्परा से चली आ रही आदतों और संस्थाओं तथा हमारे व्यक्तिगत दृष्टिकोणों और भावुकताओं के मध्य अन्तर बहुत बड़ा है। हमारी सचेत इच्छाएं दृढ़ता से बद्धमूल सहजवृत्तियों का विरोध करती हैं और इस प्रकार हमारे सच्चे व्यक्तित्व को प्रकट नहीं करतीं। हो सकता है कि हमारी बुद्धि युद्ध को घृणाजनक और मानवता से असंगत समझती हो; परन्तु हमारी सम्पूर्ण प्रकृति को युद्ध को त्याज्य समझना होगा और वह भी इस सीमा तक कि हम अपनी प्रकृति पर अत्याचार करने के बजाय कष्ट और अकेलापन सहन करने को उद्यत रहें। इसका अर्थ केवल अपने दृष्टिकोण को ही बदलना नहीं, अपितु अपने मनोवेगों का पुनर्गठन करना है। हमें संसार के सम्बन्ध में मानचित्रों और बाज़ारों की दृष्टि से नहीं, अपितु नर-नारियों की दृष्टि से सोचना शुरू करना होगा। भले ही हम अन्य व्यक्तियों की भावनाओं को अंगीकार करने को तैयार न भी हों, तो भी हमें अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने, वस्तुओं को दूसरे व्यक्ति की दृष्टि से देखने की कल्पना के श्रम से बचना नहीं चाहिए। गाल्सवर्दी के एक नाटक में एक पात्र कहता है : "यदि मुझे केवल एक ही प्रार्थना करनी हो तो वह यह होगी : 'हे प्रभु, मुझे समझने की शक्ति प्रदान करो।' " अन्य जातियों और अन्य लोगों को भी, भले ही वे कितने ही पिछड़े हुए क्यों न हों, समान रूप से पनपने का अधिकार है; शाश्वतता में उनका भी स्थान है। वे आगे की ओर यात्रा में हमारे साथी तीर्थयात्री हैं, जो अपनी परिस्थितियों का यथासम्भव अच्छे से अच्छा उपयोग कर रहे हैं। हममें से प्रत्येक मानवता के स्वास्थ्य और सुख का न्यासधर है। इस न्यास के महत्त्व के सम्बन्ध में जितना कहा जाए, कम है। और यह न्यास हमारे ऊपर यह ज़िम्मेदारी डाल देता है कि हम अन्य लोगों की दुर्बलताओं को सहन करें और कठिनाइयों पर विजय पाने और संसार में शान्ति की स्थापना करने में एक-दूसरे की सहायता करें।

## ६

## योग

एक भारतीय उक्ति है कि शब्द पृथ्वी की कन्याएं हैं, किन्तु कर्म स्वर्ग के पुत्र हैं। शब्द बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और कर्म भावना से। वह वस्तु श्रद्धा ही है, जो पर्वतों तक को हिला सकती है। श्रद्धा संकल्प की एक वृत्ति आत्मा की शक्ति और सम्पूर्ण आत्मा का प्रतिभावन है। श्रद्धा में हम केवल अपने मस्तिष्क द्वारा विश्वास नहीं करते, अपितु अपनी सम्पूर्ण आत्मा और शरीर द्वारा विश्वास करते हैं। इसमें विचार का केवल चिन्तन नहीं किया जाता, अपितु वह जीवन और मन की गम्भीरतम तहों में से निकलकर ऊपर आता है। हिन्दू लोग अकारण ही ज्ञान को आन्तरिक उपलब्धि के समकक्ष नहीं मानते। वे विचार, जिनसे हम खिलवाड़ करते हैं, आडम्बर-मात्र हैं। वे मूलरहित और रसरहित हैं और यदि उनको सृजनशील बनना हो, तो उनकी जड़ जीवन में जमनी चाहिए। जो आदर्श, आयोजनाएं और सुझाव हमारे सामने मंडराते रहते हैं, हमें उनको अपने ऊपर अधिकार करने देना होगा ; उन्हें हमपर शासन करने देना होगा ; उन्हें हमें अपने को रूपान्तरित और पुनर्निमित करने देना होगा ; हमें अपने-आपको उनके द्वारा पकड़ा जाने देना और गढ़ा जाने देना होगा, तब तक, जब तक कि हम उनकी जीती-जागती प्रतिमा न बन जाएं। अधिकांश समय में हमारा वस्तुओं के साथ सम्पर्क नहीं होता, अपितु केवल उन शब्दों के साथ सम्पर्क होता है, जो उनके वाचक हैं। हम उनके साथ एकात्म होकर, उनपर मनन करके उन्हें सप्राण बनाते हैं। केवल मनन और संसर्ग ही वस्तुतः सृजनात्मक हैं। हम केवल आत्मसृजन द्वारा, प्रचुर वैयक्तिक रूपान्तरण द्वारा संसार का पुनर्निर्माण कर सकते हैं।

यह सारे समय बोलते रहने का नहीं, अपितु सुनते रहने का भी प्रश्न है; केवल प्रार्थना करते रहने का नहीं, अपितु धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने का भी। साम (ईसाई धर्मगीत) गीतकार ने लिखा है : "मैं अपना मुंह खोलता

हूं और तेरे आदेश के लिए लालायित हूं।" आदेश केवल तभी सुना जा सकता है, जबकि हम अपने अस्तित्व की ऊपरी सतह से डुबकी मारकर उसकी गहराइयों में पहुंचें और जीवन की पूर्णता से शिक्षा लें। योग की पद्धति हमें शान्ति और ध्यान का अवलम्बन करने को कहती है। पास्कल ने ठीक ही कहा है : "यदि मनुष्य केवल किसी तरह अपनी बैठकों में शान्ति से बैठे रह सकें, तो संसार में होनेवाले अधिकांश उपद्रव कभी हों ही नहीं।" पूजा भी एकान्त प्राप्त करने का एक साधन है। परन्तु आजकल के इन दिनों में शान्त बैठना, अकेले रहना भी बहुत कठिन हो गया है। हम एकान्त से बच निकलने के लिए उपाय खोजते हैं, जैसे खेलना और मदिरा-पान करना, विलास और दुराचार करना।

योग का अभ्यास उस रूप में, जैसा कि आजकल भारत और यूरोप में बहुत-से लोग करते हैं, एक व्यायाम के रूप में या सामान्य जीवन की प्रक्रियाओं को सबल बनाने के साधन के रूप में या मृत्यु पर विजय पाने के लिए अथवा चामत्कारिक शक्तियां प्राप्त करने के लिए करना पर्याप्त नहीं है। योग का उद्देश्य आत्मा का एकीकरण है, जिसे हम आन्तरिक पुनर्जन्म भी कह सकते हैं। इसका उद्देश्य आत्म का समेकन है, अनात्म का आत्मीकरण, उन अनेक तत्त्वों का समन्वय करना, जिनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र दिशाओं में बढ़ जाने की होती है। यदि नींव पक्की न हो, तो उसपर बढ़िया मकान नहीं बनाया जा सकता। यदि नींव मज़बूत हो और आधार खूब गहरा और दृढ़ हो, तो उसपर दीवारें और खम्भे खड़े किए जा सकते हैं। जो बातें घटित होती हैं, उनमें से हमें अपनी चेतना के उपयुक्त विचार को चुन लेना चाहिए और अपने-आपको पूरी तरह उस नई पद्धति में लगा देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जीवन के विषय में एक कलाकार है ; उसे जो सामग्री प्राप्त होती है, उसके अनुसार वह अपने जीवन का नमूना स्वयं तैयार करता है। हम उसे बलात् किसी अन्य रूप में नहीं ढाल सकते। हमारे अन्दर एक अन्तर्निहित रूप या आदर्श, 'डाइमोन' है, जिसे हमें खोजना और विकसित करना है। जब मनोविश्लेषक हमसे

कहता है कि हम अपनी भूली हुई स्मृतियों, अपनी अज्ञात इच्छाओं को खोज निकालें और अपने अन्दर काम कर रही गुप्त शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करें और अपने-आपको वास्तविकता की मांगों के अनुसार ढाल लें, तब वह हमसे अपनी वास्तविक प्रकृति को जाग्रत् करने और हमारे अपने सब मनोवेगों को उस सच्ची प्रकृति की अभिव्यक्ति के साधनों में रूपान्तरित करने को कह रहा होता है। जब तक मनुष्य अपने अन्तर्निहित स्वभाव को नहीं पहचान लेता, तब तक वह पूरी तरह स्वयं नहीं होता। हममें से प्रत्येक मनुष्य एक तारवाद्य की भांति है, जिसमें से तब तक ठीक संगीत नहीं निकलता, जब तक कि तारों का तनाव बिलकुल सही न हो। हममें से प्रत्येक को निरन्तर अन्वेषण और समंजन द्वारा अपने सही तनाव को खोज निकालना होगा। योग का उद्देश्य आत्म की खोज और सम्पूर्णता का रूपान्तरण है। योग की पहली मांग यह है कि सारे जीवन को एक साभिप्राय सम्पूर्ण वस्तु बनना चाहिए और जीवन का प्रत्येक तत्त्व आत्मा द्वारा स्फूर्त होना चाहिए।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान मानवीय मन को एक सम्पूर्णता मानता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि हर सम्पूर्णता एक प्रणाली या समस्वरता भी हो, क्योंकि यह सम्भव है कि उसके अन्दर विसंवादी तत्त्व, विरोधी मनोवेग और आन्तरिक तनाव हों। फिर भी सम्पूर्णता के लिए आग्रह इस बात को प्रकट करता है कि किस प्रकार प्रत्येक घटना, प्रत्येक अनुभव एक सम्पूर्णता का कृत्य है और किसी सीमा तक वह उस सम्पूर्ण की प्रकृत्ति को बदल देता है। यदि दो व्यक्तियों को एक ही प्रकार के अनुभव में से गुज़ारा जाए, तो सम्भव है कि उन दोनों की प्रतिक्रिया अलग-अलग रूपों में हो, क्योंकि उन दोनों की सम्पूर्णताएं भिन्न हैं। आत्मा एक गतिक सम्पूर्ण वस्तु है, एक इतिहासीय गतिविधि, जिसका परिणाम यह होता है कि जीवन के अलग-अलग कालों में एक ही अनुभव का एक-सा महत्त्व नहीं रहता। सम्पूर्णता विभिन्न तत्त्वों का संचय या योग नहीं है, अपितु एक समूची वस्तु है, जो साभिप्राय और सामंजस्ययुक्त है। दूसरे शब्दों में

सम्पूर्णता के घटक तत्त्व अव्यवस्थित और रूपरहित होते हैं और उनको अनुप्राणित करने, एक महत्त्व प्रदान करने की आवश्यकता होती है; मानो यह आत्मा है, जो उन विभिन्न तत्त्वों को, जो अपने-आपमें निरर्थक हैं मिलाकर एक सन्तोषजनक रूप में उसी प्रकार ढाल लेती है, जैसे कि अलग-अलग ध्वनियां मिलकर एक राग बन जाती हैं। तब जीवन सुतीव्र और व्यवस्थित बन जाता है और एक स्थिर केन्द्र के चारों ओर प्रबल शक्ति के साथ चक्कर काटने लगता है, जिसमें से लय और समस्वरता प्रकट होती हैं। इस सन्तुलन के बिगड़ जाने का अर्थ है लय और समस्वरता का टूट जाना।

जीवन में विफलता के, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य-भंग के सबसे अधिक बारम्बार घटित होनेवाले कारणों में से एक वह है, जिसे मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं। हमारे सचेत कर्तव्य और हमारे रुझान के बीच अचेतन में गहराई तक पैठा हुआ एक विरोध विद्यमान रहता है, जो अपने-आपको कुछ दूषित भावनाओं के रूप में प्रकट करता है। मानसिक चिकित्सा को फ्रायड की महान देन उसका यह विचार है कि संसार में अधिकांश कष्ट का कारण इस अचेतन अन्तर्द्वन्द्व में ढूंढ़ा जा सकता है और उस कष्ट को इस अन्तर्द्वन्द्व को अनुभव करके और इसका समाधान करके समाप्त किया जा सकता है। जब व्यक्तित्व विभक्त और विक्षिप्त रहता है, तब कोई प्रभावी कार्य नहीं हो सकता और न आनन्द ही प्राप्त हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे अन्दर एक ही दृष्टि रहे; हमारे गुप्त विचारों और प्रकट इच्छाओं में घनिष्ठतम अनुकूलता रहे। हम अपने गुप्त मनोवेगों और गहरी इच्छाओं को आसानी से नहीं जान सकते। यदि हम अपने अवकाश और एकान्त का उपयोग चिन्तन के लिए न करें, तो हम अपने-आपको पकड़ नहीं सकते। यह मार्ग चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो, फिर भी नियत मार्ग यही है। धम उतना प्रार्थनाओं और कर्मकांडों में नहीं है, जितना कि आत्मसम्पर्क की उन मौन घड़ियों में है, जो अपने चरित्र का नियन्त्रण करने और अपने

व्यक्तित्व का निर्माण करने में हमारी सहायता करती हैं। इसके द्वारा हम अपने विचारों को स्वच्छ करते हैं, अपने मनोवेगों को शुद्ध करते हैं और आत्मा के बीज को पनपने देते हैं। वस्तुओं को शान्ति में पनपने देना (गीता के शब्दों में कर्म में अकर्म) ही योग है। यह सचेत विचार के हस्तक्षेप के बिना आत्मा का विकास है। यह विकास एक स्वाभाविक वस्तु है, हमारी साधारण भवितव्यता; और फिर भी यह सबसे कठिन वस्तु है, क्योंकि हमारी चेतना सदा आत्मतत्त्व की सरल उन्नति में हस्तक्षेप करती रहती है और उसे सुधारती रहती है। इसलिए इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अविराम साधना की आवश्यकता होती है। प्लेटो ने कहा है : "ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि मनुष्य अपने-आपको उसकी प्राप्ति का दास न बना ले।" हमें किसी एक विचार को पकड़ना होगा; उसपर अपने ध्यान को एकाग्र करना होगा; अपने मन से अन्य सब वस्तुओं को हटा देना होगा और उस विचार को अपने मन में स्थिर करने के लिए अपने सब साधनों का उपयोग करना होगा। हम उसे कागज़ पर लिखें, उसे दृश्य बनाएं, उसके चित्र या रेखाचित्र या मूर्तियां बनाएं, यहां तक कि वह हमारे अचेतन में पैठ जाए और हमें अनुप्राणित करने लगे। हमारे प्रयत्न की निष्ठा ही हमें तब तक आगे ले जाती रहेगी, जब तक कि हमारे चेतन और अचेतन के समन्वय का लक्ष्य प्राप्त न हो जाए; वहां पहुंचकर हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व एक ही विचार से भर उठता है और हमारे जीवन को एक अर्थ और एक अन्तर्वस्तु प्राप्त हो जाती है। अपनी विशिष्ट भवितव्यता के प्रति आत्मा की एक खास तरह की संवेदनशीलता गहराई तक पैठनेवाली प्रार्थना, गम्भीर चिन्तन और सत्संग द्वारा अपने जीवन को शनैः-शनैः स्वच्छ करने से उत्पन होती है। जब आत्मा अपने व्यवसाय को पहचान लेती है, तब इसका अस्तित्व स्वयं जीवन की शक्ति द्वारा पूर्ण बन जाता है। उसके बाद यह जीवन की सतह पर असहाय भाव से नहीं भटकती रहती, अपितु अपनी दिशा पा चुकने के बाद यह काल में जीवन-यापन करते हुए भी शाश्वत मूल्यों के लिए जीती है।

UNIVERSITY LIBRARY ALLAHABAD

## १०

# तपो ब्रह्म

जो बात व्यक्ति के विषय में सत्य है, वही समुदाय के विषय में भी सत्य है। संसार की विसंवादिताओं का, राजनीति में विचारों की अव्यवस्था का, नीतिशास्त्र में प्रमापों के गड़बड़झाले का मूलभूत कारण समूचे मनुष्य के संस्कार की उपेक्षा करके उसका बौद्धिक विशेषीकरण है। हम सत्य के किन्हीं विशिष्ट अंशों को उस असीम सत्य के साथ सम्बद्ध करने में असमर्थ रहते हैं, जो यद्यपि बुद्धि की आंखों से दिखाई नहीं पड़ता, पर फिर भी वह हमारे लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि हम उसके लिए लड़ने और मर मिटने के लिए तैयार रहते हैं। यदि हमें एक अर्थहीन संसार में योंही नहीं भटकते रहना, तो हमें अपने सामाजिक जीवन के परस्पर-विरोधी मनोवेगों में मेल कराना होगा। मानवीय व्यवहार के लिए एक लक्ष्य खोजने में, मानवीय मन के उच्चतर प्रयत्नों के लिए एकता स्थापित कराने में दर्शन और धर्म यथार्थ विज्ञानों की अपेक्षा हमारे लिए कहीं अधिक सहायक हैं।

तर्क नहीं, अपितु मनन से, याचना नहीं, अपितु उपासना से व्यक्ति के अस्तित्व का विस्तार, उन्नयन और रूपान्तरण होता है और इस प्रकार संसार का पुनर्निर्माण होता है। आंखें बन्द करके और अपने अन्दर देखते हुए, चिंतन या मनन द्वारा हम अपने आन्तरिक स्वभाव को बदलते हैं। स्वर्ग अपने आंतरिक आत्म में ही प्राप्त किया जाता है या गंवाया जाता है। हम मनन करते हैं और निर्माण करते हैं। हम अनुप्राणन करते हैं और सृजन करते हैं। परमात्मा ने समुद्र पर मनन किया था और जीवन को उत्पन्न किया था। मनन सृजनशील ऊर्जा है। तपो ब्रह्म।

चौथा व्याख्यान[1]

# कष्टसहन द्वारा क्रान्ति

## १

## धर्म और परलोकपरायणता

यहां मैं 'एज़ेकिएल' के इक्कीसवें अध्याय के छब्बीसवें पद्य पर विचार करना चाहता हूं। "मैं इसे उलट-पलट करता रहूंगा, उलट-पलट करता रहूंगा, उलट-पलट करता रहूंगा; और यह तब तक रहेगा ही नहीं, जब तक कि वह न आ जाए, जिसका कि यह अधिकार है; और तब मैं इसे उसे दे दूंगा।"

यह कहा जाता है कि धर्म विनय और निष्कर्मता की नीति का प्रचार करता है। यह परमात्मा और व्यक्ति की अपनी आत्मा के बीच का विषय है और इसका संसार से सम्बन्ध बहुत कम है। धर्म उस तपस्वी को ऊंचा बताता है, जो इसलिए संसार से दूर भागता है, जिससे वह अपने परमात्मा के साथ एकान्त में रह सके। हम ऐहिक जीवन के संन्यास द्वारा शाश्वत जीवन को पाने का प्रयत्न करते हैं। एक अरब विचारक ने कहा है : "इह-लोक और परलोक एक पति की दो पत्नियों के समान हैं—यदि वह एक को प्रसन्न करता है, तो दूसरी पत्नी ईर्ष्या से भर उठती है।" परमात्मा और संसार के मध्य इस दुखद संघर्ष के प्रति इस दृष्टिकोण के कारण धर्म के विरुद्ध यह अभियोग लगाने का आधार मिल जाता है कि यह एक प्रकार की अफीममिश्रित औषध है, जिसका उपयोग हमें इस संसार के कष्टों के प्रति उदासीन रखने के लिए किया जाता है। यह कहा जाता है कि धर्म

---

१. मैन्चेस्टर कालेज चैपल, ऑक्सफोर्ड, में ८ जून, १९३० को दिया गया प्रवचन।

एक सुविधाजनक उपाय है, जिसे सम्पन्न लोगों ने गरीबों को गरीबी में, अशिक्षितों को अज्ञान में, पापियों को पतित दशा में रखने के लिए और जनसाधारण को अपनी दासता की दशा से सन्तुष्ट रखने के लिए आविष्कृत किया है। मार्क्स और उसके बाद के समाजवादी विचारकों ने यह कहा है कि उनका मुख्य उद्देश्य इहलौकिक है।

## २

## हेगल और मार्क्स

इस दृष्टिकोण के समर्थन में कि धार्मिक दर्शन में जीवन का निष्कर्मतावादी दृष्टिकोण निहित है, हेगल का प्रमाण दिया जाता है। हेगल की दृष्टि में तर्कशास्त्र "परमात्मा का उस रूप में प्रतिपादन है, जैसा कि वह संसार और मनुष्य की सृष्टि से पहले से अपने शाश्वत रूप में विद्यमान है।"[1] यह कालरहित अनिवार्यता की व्यवस्था के रूप में विचारों का विकास है, ऐहिक आनुक्रमिकता (पारम्पर्य) की दृष्टि से नहीं। हेगल कालगत वस्तुओं के इतिहासीय पारम्पर्य का मूल कालातीत विचारों के अन्तर्व्यापी विचार में बताता है। उसकी दृष्टि में संसार एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा ब्रह्मांडीय कर्ता आत्मचेतना प्राप्त करता है। ऐहिक अस्तित्व तात्त्विक पूर्व-अस्तित्वों में बदल दिए गए हैं। इतिहास परमात्मा का जीवन-चरित्र है, आत्मा का स्वाधीनता की ओर प्रयाण। देश-कालगत यह असार जगत् केवल एक आभास है। इस प्रकार का सिद्धान्त मार्क्स को ऐसा प्रतीत होता है कि यह विद्यमान व्यवस्था को उचित ठहरा रहा है। वास्तविक और बुद्धिसगत की एकरूपता के सम्बन्ध में हेगल के अस्पष्ट सूत्र इस स्थिति को स्पष्ट नहीं करते। हेगल का दर्शन विद्यमान दशा को सुधारने या उसका पुनर्निर्माण करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा देता प्रतीत नहीं होता। सामाजिक

१. 'साइंस ऑफ लॉजिक', अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड १, पृष्ठ ६०।

क्रांति के समर्थक हेगल को सामाजिक समझौते और राजनीतिक अवसर-वादिता का समर्थक मानते हैं।

इस प्रकार का दृष्टिकोण हेगल के प्रति न्याय्य नहीं है, क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रत्येक ससीम वस्तु, वह प्रत्येक वस्तु, जो परम से ज़रा भी कम हो, न तो पूर्णतया वास्तविक है और न पूर्णतया तर्कसंगत है। क्योंकि अस्तित्व-मान (सत्) वास्तविक का पर्यायवाचक नहीं है, इसलिए यह नहीं समझा जा सकता कि हेगल का दर्शन यथावत् स्थिति को उचित ठहराता है। सचमुच वास्तविक वस्तु पूर्णतया आदर्श है; जो है वह नहीं, अपितु वह, जो कि होना चाहिए। इस समय स्थापित व्यवस्था अन्तिम नहीं है। फिर भी मार्क्स की आलोचना में कुछ जान है। यदि सब ससीम अस्तित्व अवास्त-विक हैं, तो किसी भी ससीम अस्तित्व की अधिक या कम वास्तविकता के बीच अन्तर करना सरल नहीं होगा; उदाहरण के लिए, गणतन्त्रात्मक प्रजा-तन्त्र और साम्यवादी अल्पतन्त्र के बीच। मार्क्स ने हेगल से इतिहास को तर्कसंगत विकास मानने का विचार ठीक ही अपनाया है। अन्तर केवल इतना है कि उसने हेगल के विचार को ठीक उलटा करके रख दिया है। जहां हेगल की दृष्टि में आत्मा (जिसमें कला, नैतिकता और धर्म सम्मिलित हैं) आर्थिक प्रणाली का निर्धारक तत्त्व है, वहां मार्क्स की दृष्टि में आर्थिक प्रणाली, जिसकी अपनी एक विशिष्ट, परन्तु अपुनरावर्तनीय तर्क-प्रणाली है, कारण तत्त्व है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मिक तत्त्व उत्पन्न होते हैं। हेगल की योजना में मानव व्यक्तियों द्वारा पहल करने के लिए अधिक गुंजाइश है। इतिहास का निर्माण मनुष्यों द्वारा किया जाता है। यह अव्यक्तिक शक्तियों, भौतिक तत्त्व या आत्मा की स्वतःचालित गतिविधि का परिणाम नहीं है; यह किन्हीं निश्चित लक्ष्यों की खोज में लगे मनुष्यों का कार्य है। इतिहास के पीछे विद्यमान शक्तियां मानवीय इच्छाएं और उद्देश्य हैं। जब लेनिन 'इतिहास के दृढ़ संकल्प' की, सामाजिक उथल-पुथलों की अनिवार्यता की बात कहता है तो वह इतिहास के केवल एक पक्ष पर बल दे रहा होता है। सही अर्थ में यह अधिकार मानव व्यक्तियों को दिया

गया है कि वे घटनाओं को प्रभावित करें और उनकी दिशाओं को मोड़ें। परन्तु जब हेगल यह कहता है कि विचार भौतिक तत्त्व पर शासन करते हैं, तो वह इतिहास के प्रति अधिक सच्चा होता है। विवेक और संकल्प आर्थिक तत्त्वों पर लाद दिए जाते हैं, वे उन तत्त्वों द्वारा शासित नहीं होते।

## ३

## धर्म और सामाजिक क्रान्ति

परन्तु सच्चा धर्म इस कथन में सामाजिक आदर्शवादियों से सहमत है कि शाश्वत जीवन इस पृथ्वी पर ही प्राप्त किया जाना है। धर्म की दृष्टि में मनुष्य के प्रति प्रेम उतनी ही आधारभूत वस्तु है, जितनी कि परमात्मा की पूजा। हमें अपने विकास के लिए इस जीवन के माध्यम से ही, इसे रूपान्तरित करके, इसे बिलकुल बदलकर, प्रयत्न करना होगा। सामाजिक आदर्शवादी लोग आदर्श और वास्तविक के मध्य विरोध में, दो विरोधी विश्व-व्यवस्थाओं के मध्य संघर्ष में विश्वास करते हैं, जोकि सारे धर्म का सार है। बुद्ध ने संसार के दुःख और कष्ट को देखकर उन्हें संसार से समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसने उनकी उपेक्षा या व्याख्या-भर नहीं कर दी, अपितु एक पक्के क्रान्तिकारी की तरह उनपर विजय पाने का प्रयत्न किया। ईसा ने यह अनुभव किया कि स्वर्ग का साम्राज्य इस संसार के राज्य के विरोध में डटा हुआ है। सेण्ट पॉल की दृष्टि में इस संसार की शक्तियां आत्मा की शक्तियों के मुकाबले में सन्नद्ध हैं। आगस्टाइन की दृष्टि में पार्थिव शक्ति परमात्मा के नगर के विरुद्ध युद्ध कर रही है। धर्म संसार की सत्ता के स्थान पर आत्मिक शक्ति को ला बिठाने के लिए एक चुनौती है। यह मनुष्य का इस बात के लिए आह्वान है कि वह अभियान और परीक्षण करे।

परमात्मा एक सर्वोच्च क्रान्तिकारी है। वह न केवल एक कुशल निर्माता है, अपितु कुशल विनाशकर्ता भी है। सृजन और विनाश दैवीय शक्ति के

परस्पराश्रित गुण हैं। हेगल हमें बताता है : "लाशों के ऊपर कदम रखते हुए जाना ही वह मार्ग है, जिससे होकर वस्तुरूपात्मक आत्मा अपनी पूर्णता को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ती है।" यदि एक नई और अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था खड़ी होनी हो, तो पुरानी व्यवस्था को तोड़ डालना होगा। सच्चे विकास के लिए जीवन और अवकाश आवश्यक हैं ; और जो कुछ भूमि पर व्यर्थ भीड़भाड़ किए हुए है, उसे नष्ट कर देना होगा। हम ऐसी रूढ़ियों से, जो किसी समय जीवित थीं, परन्तु अब निर्जीव हो चुकी हैं, न केवल आध्यात्मिक जगत् में, अपितु राजनीतिक, सामाजिक और औद्योगिक जगत् में भी, घिरे हुए हैं। केवल शामक उपायों से काम नहीं चलेगा ; इस समय आवश्यकता एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की, आमूलचूल उथल-पुथल की है। थोड़ा-सा भी फल प्राप्त करने के लिए आधारभूमि की अनेक बौद्धिक, नैतिक और भौतिक जुताइयां आवश्यक हैं। जिन्हें हम अराजकता, विद्रोह, क्रान्ति कहते हैं, वही वे साधन हैं, जिनके द्वारा प्रगति होती है।

सब सुधार उन असन्तुष्ट, आन्दोलकारी, विद्रोही और क्रान्तिकारी लोगों द्वारा किए गए हैं, जो पाखंडों के जगत् के विरुद्ध युद्ध करते हैं। वे नये आन्दोलन शुरू करते हैं, नये धर्म-विज्ञानों का प्रतिपादन करते हैं, नये संविधानों की नींव डालते हैं। ईसा ने पुरोहितों के पाखण्डों के विरुद्ध, साम्राज्यवादी रोम की मूर्तिपूजक परम्पराओं के विरुद्ध और अपने समय के रूढ़िगत 'भद्राचार' के विरुद्ध विद्रोह किया। वह सामाजिक आवेश, जो इन महान नेताओं को बल और प्रेरणा देता है, धार्मिक उत्साह के साथ असंगत नहीं है ; इतना ही नहीं, वह उसका स्वाभाविक परिणाम है। धार्मिक संत, पैगम्बर, जिनकी आत्माएं अत्याचार और अन्याय को देखते ही भड़क उठती हैं, वे लोग हैं, जिन्होंने मानवता के प्राणतत्त्व पर सबसे गहरी छाप डाली है। धर्म को व्यावहारिक रूप से त्याज्य ठहराना, जिसे मार्क्सवाद से अभिन्न समझा जाता है, अनावश्यक प्रतीत होता है। केवल इससे कि हमारी रुचि सामाजिक है, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हमें अपने-आपको आध्यात्मिक क्षत्र से अलग कर लेना चाहिए। आध्यात्मिक सजगता और सामाजिक

दक्षता न केवल परस्पर संगत हैं, अपितु एक-दूसरे की पूरक भी हैं। आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा करना अपनी सुचारु रूप से सामाजिक कार्य करने की क्षमता को सीमित कर लेना है। संसार को बार-बार खण्ड-खण्ड किया जाता है और इस प्रकार यह धीरे-धीरे निरन्तर पूर्णता के निकट और निकटतर होता जाता है। जब तक मानवता निकृष्ट, अपरिष्कृत और कठोर है, तब तक इसे पिघलाने और ढालने का कोई अन्य उपाय नहीं है। ईश्वर में विश्वास करनेवाले लोगों में वह श्रद्धा होती है, जो विद्रोह करती है। परमात्मा बाड़ को तोड़नेवालों, अशान्ति फैलानेवालों और क्रान्तिकारियों का साथ देता है। परमात्मा के सेवक शान्ति नहीं लाते, अपितु मतभेद उपस्थित करते हैं, क्योंकि वे उन नक्षत्रों के सहारे अपनी नाव खेते हैं, जिन्हें संसार देख नहीं सकता; और इसलिए संसार उनसे घृणा करता है।

क्या इतना पर्याप्त होगा कि हम सबमें विनाश करने के लिए दृढ़ संकल्प हो? क्या विद्रोह के लिए विद्रोह को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए? आजकल हमारे सामने आध्यात्मिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध सुख-सुविधा पसन्द करनेवाले लोगों के अनेक सस्ते और सरल विद्रोह आते हैं। उग्र स्वभाव के लोगों को विनाश सरल और आकर्षक लगता है।

हमें केवल विद्रोह के लिए विद्रोह करना है, या उसका कोई और उच्चतर लक्ष्य होना चाहिए? श्रुति का कथन है कि उसका कोई उच्चतर उद्देश्य है। विकास का अन्तिम लक्ष्य जैसी कोई वस्तु है। वस्तुएं तभी स्थिर जम पाती हैं, जब वे ठीक ढंग से जम जाएं। संसार को उन लोगों को सौंप दिया जाना चाहिए, जिनका कि वह न्याय्य अधिकार है।

संसार न्यायतः किनका है? क्या यह उन कठोरचित्त, कार्यक्षम, दुनियादार, व्यापार-बुद्धिवाले लोगों का है, जिन्होंने इसपर कब्ज़ा कर रखा है? अन्य सब धर्म-ग्रन्थों की भांति ईसाई धर्म-ग्रन्थ भी यही कहते हैं: "पृथ्वी परमात्मा की है, और उसकी पूर्णता भी।" ईशावास्यम् इदं सर्वम्—"यह सब कुछ परमात्मा से व्याप्त है।" यदि हम परमात्मा के सेवक हैं, तो हमें सत्य के लिए कार्य करना चाहिए, उस सत्य के लिए, जो मनुष्य और

मनुष्य में, समुदाय और समुदाय में, राष्ट्र और राष्ट्र में ठीक सम्बन्धों की स्थापना करना चाहता है।

## ४

## प्रेम और कष्टसहन

विनम्र लोग पृथ्वी के स्वामी बनेंगे। सुख और सुविधा में रहनेवाले और सन्तुष्ट लोग विनम्र नहीं हैं; न वेतनभोगी पादरी और पुरोहित ही विनम्र हैं, जो जनसाधारण को रुष्ट करने के भय से सत्य से कतराते हैं। हमने देखा था कि किस प्रकार गत महायुद्ध में प्रत्येक धर्म-विश्वास के अधिकृत समर्थकों ने अपने राज्यों की युद्ध-सम्बन्धी नीतियों का समर्थन किया था। शान्तिवादी लोग, जिनकी नास्तिक कहकर निन्दा की गई थी, विनम्र थे, सताए गए थे; उन्होंने युद्ध का विरोध किया और मनुष्यों के बुरे से बुरे दुष्कर्मों का सामना किया। श्रुति का कथन है कि संसार अभिमानी और कार्यक्षम लोगों से छीन लिया जाएगा और दीनों और दुखियों को दे दिया जाएगा। "मैं उसे ऊंचा उठाऊंगा, जो नीचा है; और जो ऊंचा है, उसे नीचे गिरा दूंगा।" सांसारिक प्रमापों को बिलकुल बदल डालने की आवश्यकता है। उस समय भी, जबकि ईसा अपने कार्य में मग्न था, उसके अनुयायी इस विषय में विचार-विमर्श कर रहे थे कि उनमें से कौन सबसे बड़ा बनेगा। जब क्षितिज पर क्रॉस की छाया गहरी और गहरी हो रही थी, तब भी वे पद और सत्ता के विचारों में डूबे हुए थे। यदि किसी मनुष्य को महान बनना है, तो उसे नगण्य बनकर सन्तुष्ट रहना चाहिए; और यदि उसे प्रमुख बनना हो, तो वह सेवा और बलिदान में प्रमुखता द्वारा होना चाहिए। आज हम सत्ता और प्रमुखता के उन्हीं सांसारिक विचारों से भरे हुए हैं। भद्रता किसी भद्र पुरुष का आवश्यक गुण नहीं है। इसे नारी-सुलभ गुण माना जाता है। सशक्त लोगों का दुर्बलों की सहायता करने का

दायित्व सम्पूर्ण सभ्य जीवन का आधार है। परन्तु हमें अपने घरों और विद्यालयों में यह पढ़ाया जाता है कि सशक्त लोगों को दुर्बलों से सेवा प्राप्त करने का अधिकार है। यह विचित्र सिद्धान्त ही हमारे व्यवहार की तह में रहता है। क्योंकि स्त्रियां दुर्बल होती हैं, इसलिए उन्हें पुरुषों की दासी बनकर रहना चाहिए। पिछड़े राष्ट्रों को, जिसका अर्थ है भौतिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों को सबलतर शक्तियों का अनुचर बनकर सन्तुष्ट रहना चाहिए। परन्तु धर्म इससे उलटे इस सत्य की घोषणा करता है कि सशक्त लोगों को दुर्बलों का सेवक बनना चाहिए। जिसे अधिक दिया गया है, उसीसे अधिक मांगा जाएगा। यदि हमें अपने उन्नत राष्ट्र होने का घमंड है, तो उसके साथ कर्तव्य और सेवा का दायित्व भी लगा हुआ है।

संसार प्रेम और सेवा के नेताओं का है। स्वामी सेवक है। जो कोई इच्छापूर्वक और सुचारु रूप से दूसरों की सहायता करता है, वह सबसे महान है। मार्गदर्शक और सुधारक सदा कष्ट सहन करते हैं। वे अपने स्वार्थ की अपेक्षा किसी महत्तर लक्ष्य में लग जाते हैं और तब तक मुख नहीं मोड़ते, जब तक कि वह लक्ष्य प्राप्त न हो जाए। "संसार में तुम्हें मुसीबतें सहनी पड़ेंगी।" धार्मिक दृष्टिकोण इस लोकप्रिय विश्वास के साथ मेल नहीं खाता कि आनंद जीवन का मुख्य लक्ष्य है। जब दार्शनिक लोग इस आनन्दवादी दृष्टिकोण को अपनाते भी हैं, कि आनन्द मुख्य अच्छाई है, तब उनका आनन्द से अभिप्राय आध्यात्मिक प्रसन्नता से होता है और भौतिक सुख-सुविधा या शारीरिक सन्तुष्टि से नहीं होता। वे यह मानते हैं कि कष्टसहन पूर्णता या आध्यात्मिक आनन्द तक पहुंचने का मुख्य साधन है। प्रेम और बलिदान की शक्ति ही इस संसार को नये रूप में गढ़ सकती है, जो आज द्वेष और सन्देह की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। जिस अनुपात में मनुष्य आत्मनिर्भर और आत्मअभिमानी बनने का यत्न करते हैं, उसी अनुपात में वे पंगु और विकृत होते जाते हैं। जिस सीमा तक उनमें प्रेम होता है, उस सीमा तक वे पूर्ण और विशुद्ध बन जाते हैं।

प्रेम और कष्टसहन दोनों साथ-साथ रहते हैं। वे दो आंखों के समान

हैं। दान्ते यह मानता था कि प्रेमी लोग सब कालों में दुःख का सर्वोत्तम मुकुट धारण करते रहे हैं। जो भी कोई वस्तुतः प्रेम करता है, वह कष्ट से नहीं बच सकता। जितना अधिक आप प्रेम करेंगे, उतना ही अधिक आपको कष्ट सहना होगा। प्रेम करने का अर्थ कम दुःखी होना नहीं, अपितु कम निकृष्ट होना है। जीवन विरोधों की एक शृंखला है। हममें से सर्वोत्तम लोग एक-दूसरे के सम्मुख होकर एक-दूसरे को समझने में असमर्थ रहते हैं। पुरुष और स्त्री, माता-पिता और सन्तान एक-दूसरे के सम्मुख पारस्परिक विरोध में खड़े होते हैं। हमारे संसार में, जो इतनी तेज़ी से बदल रहा है, जो बहुत घबराया हुआ और अपने सम्बन्ध में एकदम अनिश्चित है, जिसकी जड़ें उखड़ चुकी हैं, जिसके आदर्शों में आमूलचूल परिवर्तन हो गया है, जिसमें काल और परम्परा से पवित्र मानी जानेवाली वस्तुओं में विश्वास बुरी तरह लड़-खड़ा गया है, बच्चे मार्गदर्शन के लिए माता-पिता की ओर नहीं ताकते; और माता-पिता बेचैन और चिन्तित रहते हैं, जबकि उन्हें गम्भीर और शान्त रहना चाहिए। क्या हम केवल इसलिए मुंह मोड़कर चल दे सकते हैं कि हम दूसरे को समझते नहीं? यदि हम सचमुच प्रेम करते हैं, तो हम इस प्रकार नहीं चल दे सकते। क्या हम विरोध पर बल-प्रयोग द्वारा विजय पा सकते हैं? हम अपनी आन्तरिक अभिलाषाओं और अपनी अतृप्त लालसाओं का बल-प्रयोग द्वारा दमन नहीं कर सकते। कारण यह है कि दबाई गई इच्छा एक प्रच्छन्न शत्रु होती है। यदि हम अपने विरोधी को हरा दें, तो वह घात में रहेगा और ज्योंही अवसर मिलेगा, त्योंही वह हमें पछाड़ देगा। जिससे समझौता हो गया हो, वह शत्रु अच्छा मित्र बन जाता है; पराजित प्रतिद्वन्द्वी कट्टर शत्रु होता है। हिंसा भले ही अन्याय का दमन कर दे, परन्तु उससे कटुता बढ़ जाएगी। हिंसात्मक प्रतिरोध दुर्भावना को बढ़ाता है। यदि हम विरोध पर प्रेम द्वारा विजय नहीं पा सकते, तो एक ही उपाय बचता है, और वह है सहन करना। हमें या तो सहन करना होगा या पलायन करना होगा। दोनों ही रूपों में यह कष्टसहन से भिन्न नहीं है। हम आवेशों और महत्त्वाकांक्षाओं को, एकाकीपन और प्रेम को दूसरों को जता

नहीं सकते। दूसरे उन्हें समझते ही नहीं। वे मानते हैं कि आवेश क्षुद्र वस्तु है और भावना घटिया चीज़ है; और यदि हम प्रेम करते हैं, तो हमें इस सबको दीनतापूर्वक सहन करना होगा। ऐसी दशाओं में मनुष्य को अपने विचारों को अपने तक ही रखना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी आन्तरिक अखंडता के साथ द्रोह करें। इसके विपरीत इसके द्वारा व्यक्ति मौन द्वारा अपनी अखंडता की रक्षा करता है और अपनी सहिष्णुता द्वारा उसे सुरक्षित रखता है। अन्ततोगत्वा प्रबलतम शक्तियां भी अनुभव करेंगी कि प्रेम की निश्छलता का, उस प्रेम की निश्छलता का, जो अधिकतम कष्टसहन करता है, मुकाबला कर पाना कठिन है।

हमसे कहा गया है कि हम बुराई के बदले भी अच्छाई करें। बुद्ध के शब्दों पर ध्यान दीजिए: "द्वेष द्वारा द्वेष का नाश नहीं होता; केवल प्रेम द्वारा ही द्वेष का नाश होता है।" "भिक्षुओ, यदि डाकू और हत्यारे तुम्हारे जोड़ों और पसलियों को आरे से काट दें, तब भी जो कोई इस बात पर क्रोध कर बैठेगा, वह मेरे आदेशों का पालन नहीं कर रहा होगा।"[1] उपनिषदों के काल से ही हिन्दू नेता कहते आए हैं कि हमें असहिष्णु लोगों के प्रति भी सहिष्णु और हिंसक लोगों के प्रति भी भद्र होना चाहिए और सांसारिक वस्तुओं में आसक्त लोगों के साथ रहते हुए भी सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त रहना चाहिए। सम्भव है कि इस प्रकार का आदर्श क्रियाशील जातियों को, जिनमें कि जीवन की प्रबल भावना भरी है, पसंद न आए। परन्तु यह छिपे हुए घावों को भर सकता है और वैयक्तिक कष्टों

१. "जैसे कोई माता अपने बच्चे पर दृष्टि रखती है,
अपने इकलौते बच्चे पर, तब तक, जब तक कि उसमें जीवन रहता है,
उसी प्रकार हमें बड़े या छोटे, सब प्राणियों के प्रति,
ऐसा ही असीम हृदय और मन विकसित करना चाहिए;
हां, हमें सारे संसार के प्रति प्रेम का व्यवहार करना चाहिए,
ऊपर-नीचे चारों ओर और सर्वत्र,
जो अकुञ्चित, दुर्भावना और शत्रुता से शून्य हो!"
(सुत्तनिपात. सुत्त १४६-१५०, श्रीमती राइस डेविड्स कृत अंग्रेजी अनुवाद।)

को हलका कर सकता है। देश और काल के रंगमंच पर इससे बढ़कर श्रेष्ठ बात कुछ नहीं है कि भले पुरुष और सच्ची स्त्रियां, जो सुख-सुविधाओं का परित्याग कर देते हैं, अछूतों की भांति कष्ट सहन करते हैं और संसार की गलियों में अभावग्रस्त होकर प्रेम बिखेरते हुए चलते हैं ; और वे न तो उसके विषय में बात करते हैं, न उसमें कुछ अच्छा अनुभव करते हैं और न यही चाहते हैं कि इस बात को कोई व्यक्ति जाने।

## ५

## ईश्वर प्रेम है

ईश्वर सबका स्नेही मित्र है—भगवद्गीता के शब्दों में वह सुहृदं सर्व-भूतानाम् है। यदि ईसा ने आत्मा के लिए विजय प्राप्त की, तो वह शक्ति या लोभ द्वारा नहीं, अपितु धैर्यपूर्ण प्रेम और कष्टसहन द्वारा प्राप्त की। इस महान उक्ति का कि "परमपिता को पुत्र के सिवाय कोई नहीं जानता," अर्थ यह है कि केवल वही व्यक्ति, जो तीव्र प्रेम करता है, पिता के रूप में परमात्मा के सच्चे स्वभाव को समझ सकता है, जिसकी कि विशेषता कष्ट-सहन करनेवाला प्रेम है। परमात्मा कोई राजा नहीं है, जो अपने दैवीय अधिकारों का प्रयोग करता हो और अपना कानून दुनिया पर लागू करता हो, अपितु वह तो एक सुकुमार स्नेहमय पिता है, जो केवल इसलिए प्रेम करना बन्द नहीं कर देता कि हम पाप करते हैं और खरे नहीं उतरते। जिस धर्म के लिए ईसा ने क्रॉस पर चढ़कर प्राण दिए, उसके सारभूत सत्य को जॉन ने अपने धर्मपत्र में इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "प्रिय बन्धुओ, हमें एक-दूसरे से प्यार करना चाहिए, क्योंकि प्यार परमात्मा का है। जो कोई प्रेम करता है, वह परमात्मा से उत्पन्न हुआ है और परमात्मा को जानता है। जो व्यक्ति प्रेम नहीं करता, वह परमात्मा को नहीं जानता। कारण कि परमात्मा प्रेम है।" न्याय नहीं, अपितु स्वतःस्फूर्त और हिसाब-

किताब रखकर न चलनेवाला प्रेम ही इस विश्व का गहनतम तथ्य है।

प्रेम कोई क्षणिक भावना या दुर्बल संवेग नहीं है, अपितु यह तो जीवन की एक वृत्ति है, जिसका मन, भावना और संकल्प पर प्रभाव होता है। यह प्रबल, गहन और चिरस्थायी होती है। इसमें प्रेम-पात्र के प्रति आदर होता है, उसकी सर्वोच्च कोटि में विश्वास होता है और उसका अधिकतम भला करने का यत्न होता है। हम एक-दूसरे के इस प्रकार अंग हैं कि हम अपने-आपको हानि पहुंचाए बिना अथवा लाभ पाए बिना अपने पड़ोसी को हानि या लाभ नहीं पहुंचा सकते। प्रश्न यह नहीं है कि ऐसे लोग हैं या नहीं, जो प्रेम के योग्य नहीं हैं ; अपितु यह है कि क्या देवतुल्यता का अर्थ यह नहीं है कि लोगों से तब भी प्रेम किया जाए, जबकि वे प्रेम करने योग्य न भी हों? जहां भी जीवन पर प्रेम का शासन होता है, वहां जीवन प्रदान का एक अविराम कृत्य बन जाता है, जिसमें प्रतिदान की कोई कामना नहीं होती। उसका अस्तित्व प्रदान से पृथक् नहीं किया जा सकता, यद्यपि बाह्य दृष्टि से देखा जाए, तो इस प्रदान में आनन्द या कष्ट भी हो सकता है। जो प्रेम आध्यात्मिक स्तर का है, उसके लिए तो कोई प्रतिदान हो ही नहीं सकता। उसका तो केवल विनिमय अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान-मात्र हो सकता है ; या और सही कहा जाए, तो उसमें केवल हिस्सा बंटाया जा सकता है। यह पूर्णतया निःस्वार्थ होता है और यह निःस्वार्थ हुए बिना रह नहीं सकता। गेटे की इस उक्ति में, "यदि मैं तुझे प्रेम करता हूं, तो इससे तेरा कोई लेना-देना नहीं है", उस पूर्ण निःस्वार्थता की कोटि पर बल दिया गया है, जो सच्चे प्रेम का एक घटक तत्त्व है, जो उस प्रकार का प्रेम करनेवाले व्यक्ति को अलौकिक स्तर तक ऊपर उठा देती है। जो इतनी तीव्रता से प्रेम करता है, वह पवित्र हो जाता है।

## ६

## पड़ोसी से प्रेम

पड़ोसी से प्रेम का, जिसका कि सब धर्म उपदेश करते हैं, अर्थ है—उसके प्रति और उसके व्यक्तित्व के प्रति न्याय और आदर। अपने पड़ोसी से प्रेम करने का यह अर्थ नहीं है कि उसे हमारे मतों को स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए, अपितु यह है कि हम अपने प्रमापों को त्याग दें और दूसरे व्यक्ति की आंखों से देखें और उसके हृदय से अनुभव करें और उसके मन के अनुसार समझें। जब हमारा पड़ोसी अपनी प्रकृति के रुझान के अनुसार कार्य करे, तब मुंह बनाकर बैठ जाना पड़ोसी के प्रति प्रेम नहीं है। पड़ोसी से प्रेम करने के लिए हमें दूसरों की सम्मतियों के प्रति उदारचेता और सत्कारशील होना होगा। जब तुर्गनेव ने यह कहा था : "मुझे ऐसा लगता है कि जीवन का सम्पूर्ण महत्त्व इस बात में है कि व्यक्ति अपने-आपको दूसरे नम्बर पर रखे", तो वह प्रेम पर ही टिप्पणी कर रहा था। "यदि मांस खाने से मेरे भाई को बुरा लगता है, तो मैं कभी भी मांस नहीं खाऊंगा, जिससे मेरा भाई अप्रसन्न न हो।"[1] यदि हम खानपान तक के मामलों में इतने सतर्क हों, तो हमें सामाजिक जीवन और धर्म के मामलों में दूसरों का कितना अधिक ध्यान रखना चाहिए? प्रत्येक व्यक्ति को, जैसा वह चाहे, उस ढंग से जीवन-यापन करने का पवित्र अधिकार है। आजकल के जीवन में हम सब एक ही ढंग के वस्त्र पहनते हैं, जो विनियमों के अनुसार कटे और सिले होते हैं; हम एक ही प्रकार के सामाजिक नियमों का पालन करते हैं और हमारे विचार उन्हीं एक प्रकार की परम्पराओं द्वारा गढ़े जाते हैं। हम एक ही समाचारपत्रों को पढ़ते हैं, एक ही चलचित्रों को देखते हैं और एक ही खेलों को खेलते हैं। हम एक-दूसरे की इतनी हास्यास्पद दासता के साथ नकल करते हैं कि हमारे व्यक्तित्व उपेक्षित रह जाते हैं। हम शिष्टता के देवता के पुजारी बन गए हैं।

---

१. 'कोरिन्थियन्स' ८, १३।

यह देखकर खेद होता है कि आज के इस युग में भी ऐसे ईमानदार पुरुष और स्त्रियां हैं, जिनका यह विश्वास है कि वे और केवल वे ही सत्य के मार्ग पर हैं और जो कोई व्यक्ति उनके मत को स्वीकार नहीं करता, वह सचमुच दया का पात्र है, मानो वह कोई अभागा और घटिया कोटि का प्राणी हो। यह एक अहंकारपूर्ण विनम्रता और आध्यात्मिक दम्भ है, जो तिरस्कृत पड़ोसी के लिए अत्यधिक चिन्ता के रूप में प्रकट होता है। सच्चे प्रेम की यह मांग है कि हम अपने साथी मनुष्यों के पृथक् व्यक्तित्व को स्वीकार करें और आन्तरिक शुद्धता और अखंड एकता प्राप्त करने में उनकी सहायता करें।

यदि हम आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित हैं, तो हमारी प्रेम और सेवा करने की क्षमता सदा बढ़ती जाएगी। हम दूसरों के प्रति दयालु होंगे और अपने प्रति कठोर होंगे। आध्यात्मिक प्रभाव की विशेषता यही है कि वह आन्तरिक दृष्टि से कठोर और तपस्वी होता है और बाह्यतः नम्र और क्षमाशील होता है। केवल आध्यात्मिक लोग ही दुःखी आत्माओं का उद्धार कर सकते हैं और उन्हें रूपान्तरित कर सकते हैं। जब हम अपने जीवन पर दृष्टि डालते हैं, जब हम उन क्षणों की याद करते हैं, जबकि साहचर्य को अनुभव कर पाने के सुअवसर हमारे पास थे, तब हमारे मन में यह तीव्र पश्चात्ताप हुए विना नहीं रहता कि हमने तब उस साहचर्य का अधिक लाभ नहीं उठाया, जब वह हमारे इतना अधिक निकट था; और यह कि हम इतने अन्धे और हृदयहीन थे और कुछ तनिक अधिक कोमल और तनिक अधिक दयालु नहीं थे। जब हम अपनी विगत स्मृतियों को याद करने लगते हैं, तो हमारे लिए सबसे कष्टदायक स्मृतियां उन अवसरों की होती हैं, जव हमने अपने-आपको तब भी चिड़चिड़ा और उदासीन दिखाया, जबकि क्षुधित आंखें हमारी ओर लालसापूर्ण आशा से देख रही थीं; जब हमने अपने प्रेमपूर्ण मनोवेग को अपने अधिकारों की एक ईर्ष्यापूर्ण भावना के कारण, अपने बड़प्पन के किसी मिथ्या अभिमान के कारण, परम्परागत नियमनिष्ठ आचार के किसी हीन भय के कारण, अपने

दायित्वों की किसी क्षुद्र भावना के कारण परे हटा दिया, जब हमने अपनी मुस्कराहट को दबा दिया और अपने हाथ को रोक लिया और चुपचाप मुंह मोड़कर दूसरी ओर चल दिए। जीवन गंवाए हुए अवसरों की एक शृंखला है। परमात्मा हमें अवसर प्रदान करता है, परन्तु यह हमारे हाथ में है कि हम उन अवसरों को पकड़ते हैं या नहीं।

७

## "फैसला मत दो"

जब हमारे सम्मुख 'दोषी' और 'अपराधी' आते हैं तो हमारा आधुनिक संसार अपने नियत प्रमापों के अनुसार अच्छाई का समर्थन करता है और दोषियों को दंड देता है। समता और स्वस्थचित्तता के इन व्याख्याताओं की दृष्टि में, जिनमें बुराई को ढूंढ़ निकालने के लिए एक छठी इन्द्रिय विकसित हो गई प्रतीत होती है, अच्छाई और बुराई (पुण्य और पाप) स्पष्टतया सीमांकित और निश्चित हैं। उनके आयाम और कोटियां प्राचीन ऋषियों और शास्त्रकारों द्वारा पहले से निश्चित कर दी गई हैं। हमारे शिक्षकों ने हमें प्राचीन नियमों का ज्ञान कराया है और हमें उनका आदी बना दिया है। भली भांति स्थापित उस संहिता का ही आंख मूंदकर पालन करना होता है; यदि कोई पालन न करे, तो उसे अपनी स्वतन्त्रता, अपनी सम्पत्ति, इतना ही नहीं, जीवन तक देकर उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। यदि हम थोडा रुककर सोचें, तो हमें अनुभव होगा कि नैतिक सहिता एक रूढ़ि है और प्रत्येक वस्तु, यहां तक कि काल, स्थान और कारण जैसी आधारभूत धारणाएं भी विशुद्ध कल्पना-मात्र हैं। संसार कुछ भी जानता नहीं है, अपितु कल्पना कर लेता है, मान लेता है। अतीत में परम्पराएं और प्रथाएं अनेक प्रकार के कार्यों को उचित ठहराती रही हैं। हम विधवाओं को जलाते थे, नरबलि देते थे, वध और उत्पीड़न में आनन्द लेते

थे, लोगों से हरा-किरी (आत्महत्या) करने की मांग करते थे ; और हम इन सब बातों को सर्वमान्य व्यवस्था का अंग मानते थे। जब किसी प्रकार का आचरण सामाजिक मत के अनुकूल होता है, तो हम यह समझते हैं कि हम व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं। आजकल राज्य अपने लाखों नागरिकों को युद्ध के नाम पर निरुद्विग्न भाव से बलि कर देते हैं। जीवन एक अविराम कर्मकांड बन गया है।

परन्तु प्राधिकार में विश्वास मानव प्राणी को व्यक्तित्व-शून्य कर देता है। जब हम किसी अन्य व्यक्ति के निर्णय को अन्तिम मान लेते हैं, तब हम अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता को खो बैठते हैं। विशुद्ध रूप से औपचारिक और ऐन्द्रियिक जीवन मानव प्राणी के लिए बिलकुल अयोग्य है, हालांकि हममें से अधिकांश लोग इस प्रकार का जीवन बिताते हैं। मानवीय सम्बन्धों में जितनी भी प्रगति हुई है, वह सब धर्म से वैमत्य रखनेवाले उन लोगों के कारण हुई है, जो अपनी कल्पना-शक्ति को मार डालने अथवा अपनी स्वाभाविक सहानुभूति को कुचल डालने के लिए तैयार नहीं हैं। शिष्टाचरण की पूजा केवल वे ही लोग कर सकते हैं और सजीव मन और हृदय की तुलना में वे ही उसे पसन्द कर सकते हैं, जो आत्मिक दृष्टि से मर चुके हैं। सन्त लोग नियमनिष्ठा के विरोधी रहे हैं; हालांकि इसका विलोम सत्य नहीं है। केवल नियमनिष्ठ लोगों के लिए जीवन में कोई समस्याएं नहीं होतीं। नियमनिष्ठा जहां सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक है, वहां यह भी सत्य है कि यह आध्यात्मिक जागरूकता का स्थान नहीं ले सकती।

यदि हम इस तथ्य को समझ लें, तो हम प्रथाओं का अनुसरण न करने-वाले लोगों की निन्दा करने में और अधिक सावधानी से काम लेंगे। कोई दोष परिस्थितियों के प्रभाव में आकर अथवा अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा के वशीभूत होकर किया गया हो सकता है। उस युवक में, जो अपने शिक्षा-काल में ही इसलिए मर जाता है, क्योंकि उसकी आत्मा ध्वस्त हो गई है, उन जुगनू जैसी चमकीली लड़कियों में, जो अपनी बनावटी

भावनाओं द्वारा युवकों के अपरिष्कृत आवेशों को उत्तेजित कर देती हैं, हम कैसे कह सकते हैं कि उनमें कुछ भी दिव्य अंश नहीं है? संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो पूर्णतया दिव्य अथवा पूर्णतया पैशाचिक हो।[1] हम सबमें, चाहे वे छोटे हों या बड़े, चाहे निम्न हों चाहे उच्च, सौन्दर्य के प्रति एक सहजवृत्ति, सत्य के प्रति एक लालसा और प्रेम की एक असीम आकांक्षा है, जो हमें दिव्य बनाती है। भूलों और दुर्बलताओं में भी एक अपना मार्मिक सौन्दर्य होता है। लोग असाधारण दशाओं में पाए जाते हैं। वे असत्य के भंवर में पड़कर एक ऐसे संसार में अपराध करते हैं, जिसमें स्वाभाविकता का स्थान निरन्तर रूढ़िपरायणता लेती रहती है, जिसमें सरलता और नैसर्गिकता असत्यों के ढेर के नीचे, जिन्हें कि कानून कहा जाता है, कुचली जाती हैं। हम इस बात को नहीं देख पाते कि हमारे समाज की व्यवस्था ही अस्वाभाविक है और यदि हम अपराधों और अपराधियों से छुटकारा चाहते हैं, तो इस समाज-व्यवस्था को बदला जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त मानवीय जीवन में दैवयोग का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है और वे केवल अभागे लोग होते हैं, जिन्हें अत्याचार सहना पड़ता है। वे कष्ट पाते हैं और यन्त्रणा से चीखते हैं और उन्हें दण्ड देकर हम उनपर और भी गहरे आघात करते हैं।

वह केवल एक ही है, जो यह कह सकता है: "बदला लेना मेरा काम है; मैं हिसाब चुकता कर दूंगा।" मानवीय प्राणियों को यह समझना चाहिए कि वे स्वयं पापी हैं और उनके लिए केवल एक ही उपाय है कि वे प्रेम और दया करें। संसार में कोई प्राणी दुष्ट नहीं हैं; हैं तो केवल अभागे प्राणी; और हमारा एकमात्र कर्तव्य यह है कि हम एक-दूसरे को समझें और एक-दूसरे से प्रेम करें।

---

१. दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।

८

## सृजनशील कला और ज्ञान

कला का काम करुणा की भावना को जगाना है। इसका सर्वोच्च कार्य न तो स्तुति करके किसीको बहुत ऊंचा उठाना और न निन्दा करके किसीको नीचा बताना है, अपितु उन्हें मानवीय रूप देना है। कलाकार इस कार्य को केवल मानवीय आत्मा के गुप्त मनोवेगों में अन्तर्दृष्टि द्वारा झांककर और उसके स्वप्नों और महत्त्वाकांक्षाओं को अंकित करके सम्पन्न कर सकता है। महान कलाकार में साधारणीकरण की वह गहरी भावना होती है, जिसके बिना कोई वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। वह एक भिन्न इतिहास में होकर जीने और अपनी कल्पना में उसको अनुभव करने का यत्न करता है। जब वह जीवन के मर्म पर अधिकार करने में सफल हो जाता है, तब वह आत्मा के संघर्ष और व्यथा को प्रकट कर सकता है; तब वह बता सकता है कि वह आत्मा प्रलोभन के कगार पर खड़ी किस प्रकार डावां-डोल रहती है और घोर आतंक के वशीभूत होकर 'हां' या 'ना' कहने में असमर्थ रहती है। वह अपने पात्रों को उनकी अपनी स्वाभाविक लय में पनपने, फलने-फूलने और मुरझाने देता है। वह मानवीय जीवन की विस्तृतता और विविधता का दर्शन कराता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के द्वारा ब्रह्मांडीय स्थिति का एक निर्धारित केन्द्र बन जाता है। वह स्वयं अपने श्वास के साथ श्वास लेता है, स्वयं अपने होंठों से हंसता है और स्वयं अपने अश्रुओं में रुदन करता है। परस्पर-विरोधी शक्तियां प्रकट हो जाती हैं; ऐसा प्रतीत होता है कि आत्माएं शिकंजे में कसी हुई हों और हम उनसे सहानुभूति अनुभव किए बिना नहीं रह सकते। संस्कृत के महान कवि भवभूति का कथन है कि यद्यपि कवि लोग हास्य, दया, करुणा, क्रोध, प्रेम इत्यादि विभिन्न भावों का वर्णन करते हैं, परन्तु वे सब वस्तुतः एक ही

सामान्य तत्त्व—करुणा के ही विविध रूप हैं।[1]

अच्छाई की बरबादी और श्रेष्ठ आत्माओं के उत्पीड़न की एक गहरी अनुभूति ही सम्पूर्ण करुणा (शोकान्तता) का सार है। कष्टसहन हमें वस्तुओं के केन्द्र तक और जीवन की क्षुद्रताओं से दूर ले जाता है। यह मनुष्य की महानता की एक अनुभूति को, इस बात को कि वह अपने मन के अन्दर ही अन्दर कितना कुछ सहन कर सकता था, प्रकट करता है। गंभीर आत्माएं उन नाटकों में, जो करुणा और आतंक को जाग्रत् करते हैं, उतना ही आनन्द लेती हैं, जितना कि बच्चे और उथले प्रकार के लोग 'जैक और बीनस्टाक' जैसे नाटकों में आनन्द लेते हैं। 'फालस्टाफ' हमें उतना आकृष्ट नहीं करता, जितना कि हैमलेट, हालांकि दोनों ही समान रूप से मुखर हैं। शेक्सपियर अपने महान पारिवारिक शोकान्त नाटकों में जीवन के सम्मुख एक दर्पण खड़ा करके हमारी सहानुभूति कष्ट सहनेवाले लोगों के प्रति जगाता है। हैमलेट की व्यथा और विक्षेप अप्रत्याशित नहीं हैं। क्लौडियस और जरट्रूड दुराचारमय जीवन बिताते हैं। वे हैमलेट के पिता की हत्या कर देते हैं। सिंहासन पर अधिकार कर लेते हैं और हैमलेट को उसके उत्तराधिकार से वंचित कर देते हैं। उसकी माता के अपराध की भावना उसके मन पर छा जाती है। वह ओफीलिया की ओर अभिमुख होता है और उसे बताता है कि वह भी अवश्य ही व्यभिचारिणी बनेगी, हालांकि कोई बात ऐसी नहीं है, जिससे ऐसा भासित होता हो। वह उसे तपस्विनियों के मठ में प्रविष्ट होने को कहता है, उसे पागल कर देता है और उसकी मृत्यु का कारण बनता है। उसकी इच्छाशक्ति समाप्त हो चकी है। वह युक्तियुक्त ढंग से तर्क कर पाने में असमर्थ है और उसके मस्तिष्क में विचारों की घूमरघेरियां-सी बनती हैं। वह जीवन और मृत्यु पर दृष्टिपात करता है और सोचता है कि इन दोनों में से कौन-सा अधिक बुरा है: "होना या न होना।" मैकबेथ एक भीषण रक्तपात में से गुजरता है और

---

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्।

जीवन पर इस टिप्पणी के साथ समाप्त होता है कि यह एक निरर्थक कथा है, जिसमें कोलाहल तो बहुत है, परन्तु जिसका अर्थ कुछ भी नहीं है। ओथेलो अपनी पत्नी को मार डालता है, आत्महत्या कर लेता है और सर्व-नाश कर डालता है, केवल इसलिए कि एक ईर्ष्यालु खलनायक चतुराई से उसपर विश्वास जमा लेता है और उसकी दुर्बलताओं से लाभ उठाता है। उस दशा पर विचार कीजिए, जिसमें कि मनुष्य कुछ ऐसे मनोवेगों में फंस जाते हैं, जो उनकी गतिविधि को बांध देते हैं ; उनकी प्रतिरोध और विचार की शक्ति को और उनकी आत्मा पर जो अंधकार छा गया है, उसके विरुद्ध संघर्ष करने की उनकी इच्छा को क्षीण कर देते हैं। अपने मार्ग पर चलते हुए नक्षत्र तक उनके विरुद्ध लड़ते प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि वे अपने विनाश की ओर धकेल दिए जाते हैं। हम इन सबको बहुत करुण समझते हैं और फिर भी उन्हें उदात्त मानते हैं। मैकबेथ, हैमलेट और ओथेलो हमें हमारे साथ उनकी भिन्नता के कारण नहीं, अपितु हमारे साथ उनकी समानता के कारण प्रभावित करते हैं। उनके कार्यों और उनकी परिस्थितियों के मध्य पूर्ण समस्वरता है। गाल्सवर्दी के 'फोर्साइट सागा' को लीजिए। सोम्स और ईरेन का संघर्ष, जो सारी कहानी की तह में विद्यमान है, भाग्य के विरुद्ध मानव प्राणियों के संघर्ष को लगभग उतना ही प्रकट करता है, जितना कि ऐस्काइलस का कोई भी शोकान्त नाटक। जहां एक साथी में यौन-आकर्षण का नितान्त अभाव हो, वहां स्वभाव में निहित विकर्षण (घृणा) पर विजय नहीं पाई जा सकती। उसके पात्र अपने-आपको ऐसे रूप में प्रकट करते हैं, मानो वे सुख और दुःख की अपनी पूर्व-निर्धारित समस्वरता में रह रहे हों। केवल वे लोग ही बाह्य रूप से उनकी निन्दा कर सकते हैं, जो कल्पना और वास्तविक समझ से शून्य हों। हम जीवन की एकता से प्रभावित होते हैं। अपनी सब अगणित अभिव्यक्तियों में यह जीवन एक ही है। फैसला मत दो, क्योंकि सब कुछ अन्धकार में ढका हुआ है। ऐसे कोई दोष नहीं हैं, जिनके कि हम स्वयं अपराधी न हो सकते हों। बुरे से बुरे अपराधी जिन अपराधों के लिए दोषी होते हैं, वे केवल उन

दुर्बलताओं की कुछ अधिक बढ़ी हुई अभिव्यक्तियां-मात्र हैं, जो हम सबमें विद्यमान हैं। यह याद रखना भला होगा कि हमें अन्य मानवीय आत्माओं के जीवन और दशाओं का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। हम किसी अन्य मानव प्राणी को तब तक ठीक-ठीक नहीं जान सकते, जब तक कि उसके हृदय के अन्तिम रहस्य तक प्रकट न हो जाएं ; और ऐसे अनेक रहस्य हो सकते हैं, जो अनन्त काल तक भी रहस्य ही बने रहें। यदि हम आत्माओं को उतनी सरलता से अनावृत कर सकते, जितनी सरलता से हम शरीरों को अनावृत कर सकते हैं, तो हम कुछ कम कठोर होते । एक अर्थ में सुकरात का यह कथन कि सारा पापाचार अस्वैच्छिक होता है, सही है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति में अच्छाई की आकांक्षा होती है और यदि हम कोई बुराई करते हैं तो वह इसलिए कि हम उससे अच्छाई होने की आशा करते हैं। दुष्ट आचरण गलत अन्दाज़ के कारण होता है।

आचरणवाद, जो आजकल अधिकाधिक फैशन की वस्तु होता जा रहा है, यह मानता है कि आन्तरिक जीवन को अवेक्षक बाहर से पूरी तरह जान सकता है। इस दृष्टिकोण में व्यक्तिक अनुभव के आन्तरिक जगत् की उपेक्षा कर दी गई है, जो सही कहा जाए तो आत्मा का क्षेत्र है। हम अपने विषय में कितना कम जानते हैं ! चाहे हम कितने ही ईमानदार क्यों न हों, परन्तु क्या हम अपनी दशा दूसरों को समझा सकते हैं? हमारे अपने स्वभाव की दुर्बलताएं स्वयं हमसे बहुत ही सदयतापूर्वक छिपी हुई हैं और हम मिथ्या अभिमान और शिष्टता का कवच धारण करके दूसरों से व्यवहार करते हैं।

इसके अतिरिक्त क्या हमें मनुष्यों की दुर्बलताओं के लिए कुछ न कुछ कृतज्ञ नहीं होना चाहिए ? यदि हमारे सब ओर पूर्णता ही पूर्णता होती और हमारी भेंट केवल सन्तों और नायकों से ही हुआ करती, तो शायद हम बिलकुल ही हिम्मत हार जाते। हमें प्रयत्न करने की प्रेरणा तभी मिलती है जब हम यह देखते हैं कि संसार के बड़े-बड़े महापुरुषों में भी हमारी ही भांति दुर्बलताएं थीं, प्रलोभन थे और उनके सामने भी संशय और अन्धकार

की घड़ियां आई थीं। उनकी भूलें और कष्ट हमें सान्त्वना देते हैं। जहां वे हार गए, वहां हार जाना कोई लज्जा की बात नहीं है। मनुष्य सुख और दुःख में से गुज़रकर अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ता है और हममें से गिरे से गिरे लोग भी उसी मिट्टी से बने हैं, जिससे कि ऊंचे से ऊंचे लोग बने थे। महान आत्माओं और औसत मनुष्यों में एक वास्तविक आत्मीयता है; और यही वस्तु है, जो मानवीय जीवन के गौरव और मूल्य को बढ़ाती है।

कष्ट बन्धुत्व का दंड नहीं, अपितु पुरस्कार है। यह सब प्रकार के सृजनशील प्रयत्न का एक आवश्यक सहायक है। सहन करने में असमर्थ होना नैतिक दुर्बलता है। हमें दुःख को निमन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु दुःख का सामना कर पाना शक्ति का प्रमाण है। धर्म लगन और तपस्या के लिए व्यर्थ ही आग्रह नहीं करते। यदि धर्म हमसे यह कहता है कि हम शाश्वत मूल्यों के लिए जीवन की अच्छी वस्तुओं का परित्याग कर दें, तो वह इसलिए कि उसका यह विश्वास है कि बुराई को स्वेच्छापूर्वक जान-बूझकर किए गए बलिदानों द्वारा ठीक किया जा सकता है और सत्य की स्थापना की जा सकती है। वह यह मान लेता है कि दुःख एक ऐसी वस्तु है, जिसका कोई इलाज नहीं है और एक उदात्त आत्मा को मृत्यु के भय को, जोकि सबसे बड़ी कायरता है, त्याग देना चाहिए।

दुःख सदा दुर्भाग्य नहीं होता। बहुत बार यह विकास में हमारी सहायता करता है। दुःख की गहराइयों में हमें प्रकाश प्राप्त होता है। हम दुर्बलता और संशय के मर्मस्पर्शी क्षणों में से गुज़रकर सुधरते हैं। यदि हम जीवन के अन्धकारपूर्ण और कठिन क्षणों में से न गुज़रें, तो बहुत सम्भव है कि हम कठोर बन जाएं और अभिमान तथा साधुम्मन्यता के शिकार बन जाएं। जब हम भाग्य के सम्मुख हार जाते हैं, तभी हम विश्वात्मा के सम्मुख मौन और विनीत होकर अपना सिर झुकाना सीखते हैं। यह विचार कोई विशिष्ट रूप से हिन्दुओं में ही नहीं पाया जाता।

इसका संकेत 'प्रोवर्ब्स' (कहावतें)[1] में मिलता है और 'ऐक्लीज़ियास्ट्स' (धर्मपुस्तकें) में विकसित किया गया है : "जो कुछ तुम्हारे सिर पर डाला जाता है, उसे स्वीकार करो; और जब तुम्हें अपमान सहना पड़े, तो देर तक कष्ट सहो। बात यह है कि सोने की परख आग में होती है और श्रेष्ठ मनुष्यों की परख विपत्तियों की भट्ठी में होती है।"[2] जब हम ऐसे लोगों से या पात्रों से मिलते हैं, जिन्होंने कष्ट सहे हैं, उन लोगों से, जिन्होंने मन की उन व्यथाओं को सहा है, जोकि शरीर की यन्त्रणाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर होती हैं, तब उनके प्रति हमारी करुणा में श्रद्धा का अंश भी मिला होता है, क्योंकि वे किसी न किसी रूप में सत्य के मर्म के निकट पहुंच चुके होते हैं। हमारी दृष्टि में जिन लोगों का सबसे अधिक मूल्य होगा, वे लोग वे हैं, जिन्होंने कठिनाइयों और निराशाओं का सामना किया है; उन लोगों का नहीं, जिनके हृदय ने एक भी सच्ची व्यथा नहीं सही, जिनके जीवन में कोई भयानक चोट नहीं पड़ी। इस सबका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य को केवल कष्ट के लिए कष्ट सहना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जिस दुःख और कष्ट से बचा जा सके, उससे दूर रहा जाए। परन्तु यदि आवश्यक हो, तो मनुष्य को स्वयं कष्ट सहकर भी जीवन की कुत्साओं, इसके असत्यों और कष्टों को दूर हटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

## ६

## विद्रोही आत्मा

यदि हम एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं, जिसमें फैसला देनेवाले और पाप करनेवाले लोग उच्चतर प्राणियों के रूप में, एक-दूसरे को क्षमा

---

१. ३, ११-१२।
२. २, ४-५।

करनेवाले भाइयों के रूप में रूपान्तरित हो जाएं और इस प्रकार वे अपने-आपको मिथ्यात्व, दोष और अपराध से मुक्त कर सकें तो हमें प्रेम का अभ्यास करना चाहिए। आज के धर्म-विश्वासी (आस्तिक) से यह आशा की जाती है कि वह पुरातन और जीर्ण के विरुद्ध विद्रोह कर दे और उसे आलोकित करने के लिए कष्ट को स्वीकार करे। केवल वे लोग, जो आत्मा की अनुर्वर क्षुद्रता से रहित हैं, दूसरों के दोष को सहने के लिए तैयार हो सकते हैं। जो राष्ट्र की लज्जा अपने सिर ले सकता है, वह सच्चा नेता है। कष्ट का वरण महान लोग करते हैं। श्रद्धालु आत्मा, भले ही वह शरीर से दुर्बल हो, जीवन की कठिनाइयों का सामना करने में और उनपर विजय पाने में आनन्द अनुभव करती है।

जीवन का रहस्य सृजनात्मक बलिदान है। क्रॉस का सारभूत विचार यह है (जो यहूदियों और यूनानियों के लिए इतना उपहास का विषय बना रहा था) कि जो हमसे सच्चा प्रेम करता है, उसे हमारे लिए कष्ट सहन करना होगा और यहां तक कि मरना भी होगा। यह सब जीवित धर्मों का सारभूत सत्य है। पाप के ऊपर कष्टसहन और मृत्यु द्वारा विजय हमें केवल 'गेत्सीमेन' के उद्यान, गौतमबुद्ध के महल या उस कोठरी में, जिसमें सुकरात ने हलाहल पिया था, ही दिखाई नहीं पड़ती, अपितु अन्य अनेक अज्ञात स्थानों पर भी दिखाई पड़ती है। केवल वह, जो कष्ट सहन करता है, सच्चे रूप में प्रेममय और सच्चे रूप में दिव्य है। मनुष्यों के लिए यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने बुद्ध को, जिसने सबसे अधिक मूल्यवान मानवीय सम्बन्धों को तिलांजलि दे दी थी, और ईसा को, जिसने कि कष्ट सहन किया और अपने प्राण तक दे दिए, देवता मान लिया; कारण यह है कि उन्होंने सजीव परमात्मा के शाश्वत सार को प्रकट किया, जोकि प्रेम है। सब धर्म पुकारकर कहते हैं कि वे धन्य हैं, जो कष्ट सहते हैं। कष्ट सहना आध्यात्मिक जीवन का सार है। यह वास्तविकता का सही रूप है। यह वह रक्त है, जो हम सबको मिलाकर एक करता है। क्रॉस इस बात का द्योतक है कि बुराई अपनी सर्वोच्च विजय की घड़ियों में ही धैर्यपूर्ण प्रेम और कष्टसहन की

शक्ति द्वारा सुनिश्चित रूप से पराजित हो जाती है। जो लोग ईसा के आदर्श का अनुसरण करते हैं, उन्हें आनन्द के बजाय प्रेम को और सुख-सुविधा की अपेक्षा कष्टसहन को अधिक पसन्द करना चाहिए। उन्हें प्रेम का वरदान पाने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जिसका अर्थ है—उदारता और करुणा।

धर्म हमें बताता है कि आमूलचूल पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक सृजनशील ऊर्जा शाश्वत के साथ संयोग से प्राप्त होती है। बन्धुत्व और सेवा की भावना आध्यात्मिक स्रोतों से उत्पन्न होती है। परोपकारवाद उस आराधना का स्थान नहीं ले सकता, जिससे कि वह उत्पन्न होता है।

एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि परमात्मा, जोकि इस सारे संसार का जनक है और जो इस विश्व की चेतना है, पाशविक भौतिक पदार्थ पर क्रिया कर रहा है, जिसमें से कि उसे अपने-आपको मुक्त करना है और हमें भी मुक्त करना है। वह स्वयं हममें स प्रत्येक के अन्दर कष्ट सहन कर रहा है। जब आत्मा, जोकि इस नश्वर भौतिक तत्त्व में जकड़ी हुई है, मुक्त हो जाएगी, जब सम्भावित विश्व-आत्मा या विश्व की आत्मा प्रत्येक अंश की वास्तविक चेतना बन जाएगी, जब ऐपोसल (ईसा का मुख्य शिष्य) के शब्दों में परमात्मा 'सर्वेसर्वा' बन जाएगा, जब एकान्त में सीमित परमात्मा सर्वेश्वरवादी परमात्मा बन जाएगा, तब इस कष्टसहन का अन्त हो जाएगा।

इस बीच में संसार कष्ट सहनेवाले विद्रोहियों का, निःशस्त्र रहकर बलशालियों को चुनौती देनेवालों का और उन विनम्र प्रतिरोध करनेवालों का है, जो सत्य को नीति से ऊपर, मानवता को देश से ऊपर और प्रेम को बल-प्रयोग से ऊपर रखते हैं। युवकों की अधिकार-वंचितों के प्रति, अकर्म वेतन पाने के लिए अपना पुरुषत्व या अपना स्त्रीत्व बेचनेवाले दासों के प्रति पवित्र करुणा, और उनका उन लोगों के प्रति, जो न मेहनत करते हैं और न सूत कातते हैं और फिर भी जिनके पास पर्याप्त सम्पत्ति है, जिसे वे इच्छानुसार उड़ा सकते हैं, सदाशयपूर्ण क्रोध दिव्य वस्तु हैं। हमें उन विद्रोहियों को धीरज बंधाना चाहिए, जो एक ललिततर कला, विशुद्धतर जीवन,

निर्दोषतर जाति के निमित्त धोखाधड़ियों का अनावरण करते हुए, विषमताओं को परास्त करते हुए और मिथ्या के स्थान पर सत्य को स्थापित करते हुए युद्ध करते हैं। सब धर्म एक स्वर से, भले ही विभिन्न भाषाओं में, घोषणा करते हैं कि हमें एक आनन्दपूर्ण सैर के लिए यहां नहीं भेजा गया, और यहां तक कि यह एक ऐसी यात्रा भी नहीं है, जिसमें कि मनुष्य समझौते और मित्रता का हाथ पकड़कर सदा आगे बढ़ सके, अपितु यह तो एक युद्ध है, जिसमें कि हमें मूर्खता और स्वार्थ की शक्तियों के विरुद्ध लड़ना है। हमें कूच करते सैनिक बनना है—सत्य के सैनिक, जो प्रेम को अपना शस्त्र बनाकर लड़ते हैं और विश्व में तब तक उथल-पुथल करते रहते हैं, जब तक कि पृथ्वी पर परमात्मा का राज्य स्थापित न हो जाए।

## पांचवां व्याख्यान

# रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1]

सबसे पहले मैं आयोजन समिति की उस कृपा के लिए आभार प्रदर्शित करना चाहता हूं, जिसके फलस्वरूप मुझे इस सप्ताह की घटनाओं में भाग लेने और आज इस सम्मेलन का सभापतित्व करने का अवसर मिला। मुझे इस बात का खेद है कि मेरे स्थान पर कोई अन्य अधिक सक्षम और ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो कवि की मूल बंगला-रचनाओं से सुपरिचित हो, पर मैं महाकवि के महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रति और देश तथा सारे संसार पर उसके गहरे प्रभाव के प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करने के इस सुअवसर के लिए कृतज्ञ भी हूं।

## १

## साहित्य की महत्ता

महान साहित्य की यह एक निराली शान है कि यह राजाओं और राजवंशों की अपेक्षा कहीं अधिक चिरस्थायी होता है। इतिहास उस मानवीय भावना की शक्ति का साक्षी है, जो राजवंशों अथवा धार्मिक विश्वासों की अपेक्षा कहीं अधिक दीर्घकाल तक बनी रहती है। होमर का राजनीतिक जगत् अब मर चुका है, परन्तु होमर का गीत आज भी जीवित है। रोम का वैभव लुप्त हो चुका है, परन्तु वर्जिल का काव्य आज भी सप्राण है।

---

१. दिसम्बर १९३१ में कलकत्ता में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सत्तरवें जन्मदिवस-समारोह के सम्बन्ध में हुए सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

कालिदास के स्वप्न आज भी हमें एक सजीव वाणी की पुकार की भांति, मानवीय सम्बन्धों में करुणा की अपनी एक तीव्र भावना द्वारा द्रवित कर देते हैं, जबकि वह उज्जयिनी, जिसका कि वह अलंकार था, आज केवल उसकी रचनाओं में ही स्मृति शेष रह गई है। मध्यकाल के महान शक्तिशाली सामन्त विस्मृत हो चुके हैं, परन्तु दान्ते का गीत आज भी पसन्द किया जाता है; और एलिज़ाबेथ का युग शेक्सपियर के कारण तब तक स्मरण किया जाता रहेगा, जब तक कि अंग्रेज़ी भाषा जीवित है। जब हमारे राजा और नेता विस्मृत हो चुके होंगे, तब भी रवीन्द्र हमें अपने संगीत और काव्य द्वारा मुग्ध करते रहेंगे ; कारण यह है कि भले ही वे भारतीय हैं, फिर भी उनकी रचनाओं का मूल्य किन्हीं जातीय अथवा राष्ट्रीय विशेषताओं में नहीं, अपितु सार्वभौमता के उन तत्त्वों में निहित हैं, जो सारे संसार को समान रूप से प्रभावित करते हैं। उन्होंने जीवन के माधुर्य में और सभ्यता के उत्कर्ष में वृद्धि की है।

## २

## अध्यात्म पर बल

इस परिवर्तन के काल में अनेक तरुण भारतीयों के लिए रवीन्द्रनाथ की वाणी एक आश्वासन और प्रेरणा रही है। जब हम विफल आशाओं के भार से दबे हुए हैं और विज्ञान तथा संगठन की विजयों से उद्भ्रान्त-से खड़े हैं, जब हमारे मन अपना आधार और दिक्ज्ञान खो बैठे हैं, तब वे हमारे हृदयों में आशा और हमारे मन में उत्साह जगाते आते हैं। वे बताते हैं कि भले ही हमारे सिर क्षत-विक्षत हो गए हैं, परन्तु वे नीचे नहीं झुके हैं और सफलता का मूल्य सम्पत्ति और सत्ता के नाप से नहीं आंका जाना चाहिए। सभ्यता की सच्ची कसौटी आध्यात्मिक गौरव और कष्टसहन की शक्ति है। सम्पत्ति, सत्ता और कार्य में दक्षता जीवन की आनुषंगिक वस्तुएं हैं; वे

स्वयं जीवन नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण वस्तुएं वैयक्तिक वस्तुएं हैं, जो विज्ञान और संगठन की पहुंच से परे हैं।

रवीन्द्रनाथ ने अच्छे जीवन और सामाजिक व्यवस्था के केन्द्ररूप में आध्यात्मिक मूल्यों की सर्वोच्चता पर जो अत्यधिक बल दिया है, वह भारतीय विचारकों की सुदीर्घ परम्परा के अनुकूल ही है। उनमें हमें भारत की शाश्वत वाणी सुनाई पड़ती है, जो पुरानी होने पर भी नई है। भाग्य के उतार-चढ़ाव और इतिहास की उथल-पुथल के बावजूद भारत ने अपनी मूल आत्मा को सजीव बनाए रखा है। मनुष्य की आत्मा को भ्रम से उसका भौतिक शरीर या बुद्धि नहीं समझ लिया जाना चाहिए। बुद्धि, मन और शरीर की अपेक्षा अधिक गहरी भी कोई वस्तु है—वह वास्तविक आत्मा, जो समस्त शिव, सत्य और सुन्दर के साथ एकाकार है। उसको अपना लक्ष्य बनाकर चलना और उसे एक सजीव विद्यमानता बनाना धर्म का प्रयोजन है; अपने-आपको पवित्रता, प्रेम और शक्ति द्वारा उस धारणा के अनुरूप प्रशिक्षित करना नीतिशास्त्र का लक्ष्य है; अपने-आपको उस शाश्वत सत्ता के नमूने में ढालना हमारे सुरुचिपूर्ण स्वभाव की निष्पत्ति है। मनुष्य को न केवल तकनीकी दक्षता प्राप्त करनी है, अपितु आत्मा की महानता भी प्राप्त करनी है।

जब हम रात्रि में सैर के लिए निकलते हैं और अपनी शाश्वत पहरेदारी पर तैनात तारों को देखते हैं, तो हमारे मन में उनकी सुदूरता के समक्ष एक आतंक का भाव, उनकी अपरिवर्तनशीलता के सम्मुख शून्यता का भाव और उनकी विशालता के सम्मुख नितान्त नगण्यता का भाव जाग्रत् होता है। हृदय की धड़कन रुक जाती है, श्वास रुंध जाता है और हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को एक धक्का-सा लगता है। हमारे तुच्छ हित और चिन्ताएं दयनीय रूप से क्षुद्र और हीन प्रतीत होने लगती हैं। जब हम उत्कृष्ट काव्य सुनते हैं, या मानवीय आत्मा के अन्दर झांकते हैं, तब भी एक ऐसी ही उद्विग्नता, एक ऐसा ही श्वासरोध अनुभव होता है। दर्शन और धर्म, कला और साहित्य इस आत्मिक चेतना को तीव्रतर करने में सहायक होते

हैं। आज बौद्धिक प्रगति और वैज्ञानिक उन्नति के बावजूद हमें जो इतनी अस्थिरता, संघर्ष और अस्तव्यस्तता दिखाई पड़ती है, वह इसी कारण कि हमने जीवन के इस पहलू की उपेक्षा कर दी है। तीन शताब्दियों से भी अधिक समय में वैज्ञानिक आविष्कारों और खोजों ने अधिकाधिक समृद्धि उत्पन्न की है। अकाल लगभग समाप्त हो चुके हैं, जनसंख्या बढ़ी है और प्लेग और महामारियों जैसी जीवन की दु:खद घटनाओं पर नियंत्रण कर लिया गया है। जब सामाजिक व्यवस्था के विषय में विश्वास और सुरक्षा की भावना संसार में फैली, तब कुतूहल और अन्वेषण की भावना, जिसके कारण वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्रों में मुख्यत: विजय प्राप्त हुई थी, जीवन की अपेक्षाकृत गहरी वस्तुओं की ओर बढ़ी। शीघ्र ही संसार का रहस्य और काव्योचित सौन्दर्य जाता रहा। कठोरता और पाशविकता का, विज्ञान और बड़े व्यवसायों का एक अद्भुत नया संसार उठ खड़ा हुआ, जिसने प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द की उस व्यवस्था को विकृत कर दिया, जो-कि आत्मा के विकास के लिए बहुत ही आवश्यक थी। आधुनिक मन को सन्देहवाद और अज्ञेयवाद बहुत ही प्रिय लगने लगे हैं। सन्देहवादियों और अज्ञानवादियों (जो इस विषय में सन्देह करते हैं कि विश्व के पीछे कोई शक्ति विद्यमान है या नहीं) और उन आध्यात्मिक आस्तिकों के बीच, जो यह कहते हैं कि सबसे महत्त्वपूर्ण वास्तविकता विश्व के पीछे विद्यमान है चल रहे संघर्ष में रवीन्द्रनाथ पिछले लोगों के साथ हैं।

सुकरात से मिलने के लिए गए एक भारतीय दार्शनिक के सम्बन्ध में एक कहानी प्रसिद्ध है। यह प्लेटो या ज़ेनोफन की लिखी हुई नहीं है, अपितु ऐरि-स्टोक्सेनीज़ की है, जो ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी में हुआ था। वह बताता है कि सुकरात ने उस भारतीय अतिथि को बताया कि उसका (सुकरात का) काम लोगों के जीवन के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करना है; और इसपर उस भारतीय ने मुस्कराकर कहा कि जो व्यक्ति दैवीय वस्तुओं को नहीं समझता, वह मानवीय वस्तुओं को भी नहीं समझ सकता। सम्पूर्ण पश्चिमी परम्परा की दृष्टि में मनुष्य मूलत: एक बौद्धिक प्राणी है, जो तर्कसंगत

ढंग से सोच सकता है और उपयोगितावादी सिद्धान्तों के अनुसार कार्य कर सकता है। पूर्व में बौद्धिक योग्यता की अपेक्षा आध्मात्मिक ज्ञान और सहानुभूति का महत्त्व अधिक माना गया है। जो हज़ारों लोग बोलते हैं, उनमें से कोई एक सोच पाता है; जो हज़ारों लोग सोचते हैं, उनमें से शायद कोई एक परखता और समझता है। मनुष्य की विशेषता उसकी यह समझने की क्षमता ही है।

भौतिक उन्नति और बौद्धिक दक्षता से हमें सन्तोष नहीं हो सकता। यदि हमारे पास खूब बड़ी खेती हो और सुचारु परिवहन हो और प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना विमान और रेडियो हो, यदि सब रोगों का उन्मूलन हो जाए, यदि कामगरों को बेकारी-वेतन और पेन्शन मिलने लगे और प्रत्येक व्यक्ति खूब लम्बी आयु तक जीवित रहने लगे, तब भी अपूर्ण महत्त्वाकांक्षाएं और सतृष्ण लालसाएं रहेंगी ही। मनुष्य केवल रोटी या केवल विद्वत्ता से जीवित नहीं रहता। सम्भव है कि हम संसार को आधुनिकतम और अधिकतम दक्षतायुक्त वैज्ञानिक पद्धति से पुनर्गठित कर लें और इसे एक विशाल व्यवसायशाला बना दें, जिसमें कि मानवीय परमाणुओं की सब विविध गतिविधियां इस प्रकार सुव्यवस्थित हों कि उसमें तहखाने के कमरों में काम करनेवाली रसोईघर की नौकरानियों और घरेलू काम-काज के नौकर लड़कों से लेकर सबसे ऊपरली मंज़िल में सौन्दर्य-कक्षों में शृंगार करती हुई सुन्दर स्त्रियों तक प्रत्येक वर्ग अपना काम यथोचित रीति से कर रहा हो; और यह भी सम्भव है कि हम मानव-समाज को एक चींटी-दल में रूपान्तरित करने में सफल हो जाएं; फिर भी अतृप्त लालसाएं, परम सत्यों के लिए प्यास, रहेंगी ही। उस नई विश्व-व्यवस्था में भी बच्चे हंसते और रोते रहेंगे; स्त्रियां प्रेम करती और कष्ट सहती रहेंगी; पुरुष युद्ध और संघर्ष करते रहेंगे। मनुष्य की सच्ची महानता उसकी विफलता के कारण है—उसके अप्राप्त संसारों में अस्पष्ट आशंकाओं के साथ इधर-उधर भटकते रहने में। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसकी दुहरी स्थिति है। वह दृश्य और अदृश्य दोनों संसारों की विशेषताओं से युक्त है।

जहां वह एक ओर प्राकृतिक व्यवस्था का एक अंग है, वहां उसके अन्दर आत्मा का बीज भी है, जो उसे प्राकृतिक प्राणी होने मात्र से असन्तुष्ट बनाए रखता है। वह सच्चे अर्थों में 'सीमान्त देश का एक प्राणी' है, जिसके अन्दर पाशविक इच्छाएं और आत्मिक लालसाएं, दोनों हैं; और एक ऐसा जीवन, जो पूर्णतया पाशविक इच्छाओं को पूर्ण करने में रत हो, उसे शान्ति नहीं दे सकता।

अपने कार्य और परिश्रम के दैनिक जीवन में, जब वह खेत जोतता है या किसी राज्य का शासन करता है, जब वह सम्पत्ति ढूंढ़ता है और सत्ता प्राप्त करने की चेष्टा करता है, मनुष्य अपने वास्तविक रूप में नहीं होता। इस प्रकार की गतिविधियों में वस्तुएं प्रधान होती हैं। धनोपार्जन और परिवार के पोषण में उसका सारा समय और शक्ति लग जाती है। शाश्वत और अदृश्य वस्तुओं के लिए कोई अवसर ही नहीं मिलता। और फिर भी ऐसी घटनाएं घटित होती हैं, जो अगम्भीर चित्तों की इस शान्ति को विक्षुब्ध कर देती हैं; ऐसी घटनाएं, जिनके कारण रहस्य की भावना और अनिश्चितता की अनुभूति फिर आ धमकती है। जब मनुष्य मृत्यु के कारण शोक में होता है, अथवा निराशा के कष्ट में होता है, जब कोई विश्वस्त व्यक्ति विश्वासघात करता है, अथवा प्रेम की निष्ठा भंग हो जाती है, जब जीवन बेस्वाद और निरर्थक हो जाता है, तब मनुष्य अपनी बांहें आकाश की ओर यह जानने के लिए फैलाता है कि क्या अन्धकारपूर्ण मेघों के पीछे कोई उत्तर देनेवाली शक्ति भी विद्यमान है या नहीं; महान्तं पुरुषम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—उस समय वह अपनी चेतना के एकान्त में, प्रचुरता और तीव्रता के राज्य में भगवान के सम्पर्क में आता है। यह सम्पर्क आलोक और प्रेम के जगत् में होता है, जिसमें मौन के सिवाय और कोई भाषा नहीं है। यह आनन्द का जगत् है, जो अपने-आपको अगणित रूपों में प्रकट करता है, आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति।

मानवीय अनुभूति का काव्य, जीवन की वास्तविकताएं, जो इसके आडम्बर-मात्र से पृथक् हैं, एकान्त में ही उपलब्ध होती हैं। जब हम आत्मा

से दूर हट जाते हैं, तब हम उस एकमात्र वास्तविकता से दूर हट जाते हैं, जो हमारी पहुंच के अन्दर है। मनुष्य अपने धर्म और अपने प्रेम में ही अपने वास्तविक रूप में होता है। ये दोनों बिलकुल वैयक्तिक और घनिष्ठ, विशिष्ट और पवित्र हैं। यदि हमारा समाज इस आन्तरिक शरणस्थल पर भी आक्रमण करने का प्रयत्न करे, तो जीवन का सारा मूल्य और वास्तविकता जाती रहेगी। मनुष्य अपनी सम्पत्ति में अन्य लोगों को साझीदार बना सकता है, परन्तु अपनी आत्मा में नहीं।

आज हम इतने दरिद्र हो गए हैं कि हम आत्मा की निधि को पहचान तक नहीं सकते। अपने सचेत जीवन की दौड़-धूप और कोलाहल में हम अपने अस्तित्व के कम सुनाई पड़नेवाले तत्त्वों की ओर ध्यान नहीं देते। आकस्मिक पुलक, विक्षेपकारी मनोवेग, अन्तर्दृष्टि की झलकें, ये वे वस्तुएं हैं, जो हमारे सम्मुख उस रहस्य को प्रकट करती हैं, जोकि हम स्वयं हैं; और इनके द्वारा हम वस्तुओं के मर्म को हृदयंगम करते हैं।

केवल शान्त मनवाले व्यक्ति ही जीवन के आत्मिक अर्थ को समझ सकते हैं। आध्यात्मिक सत्य निष्ठा की शर्त है—अपने प्रति ईमानदारी। हमें प्रकाश को अन्दर आने देना चाहिए, जिससे वह आत्मा के गुप्त स्थानों को आलोकित कर सके। हमारी कपटोक्तियां और प्रतिज्ञाएं वे रोकें हैं, जो हमें सत्य से दूर रखती हैं। हम उन वस्तुओं के साथ तो अधिक परिचित हैं, जो हमारे पास हैं और उनके साथ कम, जोकि हम स्वयं हैं। हम अपने नग्न एकान्त में अपने ही सम्मुख अकेले खड़े होने से डरते हैं। हम अपने-आपसे सत्य को औषधों और मादक द्रव्यों द्वारा, उत्तेजना या सेवा द्वारा छिपाने की कोशिश करते हैं। हमें अपने-आपको एकाग्र करने, आन्तरिक जीवन का विकास करने और अपने-आपको शरीर, मन और बुद्धि के बाह्य कोशों से वापस निकाल लेने के लिए प्रयत्न करना होता है। तब हम अपने अन्दर की आत्मा को देखते हैं और तब हमें आत्मिक शान्ति प्राप्त हो जाती है। अन्तर्मुखीनता का आविष्कार आध्यात्मिक जीवन का मूल आधार है।

जब तक हम बहिर्मुख जीवन बिताते हैं, और अपनी आन्तरिक गहराइयों की थाह नहीं लेते, तब तक हम जीवन के अर्थ अथवा आत्मा के रहस्यों को नहीं समझते। जो लोग ऊपरी सतह पर जीते हैं, उन्हें स्वभावतः ही आत्मिक जीवन में कोई श्रद्धा नहीं होती। वे समझते हैं कि यदि वे धर्म को शाब्दिक रूप में स्वीकार कर लें, तो धर्म के प्रति उनका कर्तव्य पूरा हो जाता है। इस प्रकार की आत्मिक पराश्रितता सच्चे धार्मिक जीवन के साथ, जिसका मूल आधार पूर्ण ईमानदारी है, मेल नहीं खाती। स्वतन्त्र विचार से शून्य जीवन किसी आध्यात्मिक प्राणी को शान्ति नहीं दे सकता। आध्यात्मिक निष्ठा का अभाव ही हमें इस बात के लिए प्रेरित करता है कि हम धार्मिक सत्य के सम्बन्ध में उन बातों को स्वीकार कर लें, जो दूसरे लोग हमें बताते हैं। परन्तु जब एक बार व्यक्ति आत्मिक स्वतन्त्रता के साथ सत्य का अनुसरण करता है और अपने अन्दर ही एक केन्द्र बना लेता है, तब उसमें इतनी काफी शक्ति और स्थिरता आ जाती है कि जो कुछ उसपर बीते, उसका वह मुकाबला कर सके। वह प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ जाने पर भी अपनी शान्ति और शक्ति को बनाए रखने में समर्थ होता है। मानवीय प्रयत्न का अन्तिम लक्ष्य आत्मा की परम प्रशान्तता है और यह केवल उसके लिए ही सम्भव है, जिसे सृजनशील आत्मा में गहरी श्रद्धा हो और इस प्रकार जो सब क्षुद्र लालसाओं से मुक्त हो। स्वभावतः पुराणपन्थी धर्म का, चाहे धर्म-विश्वास के रूप में चाहे कर्मकांड के रूप में, उसके लिए लगभग कोई अर्थ नहीं होता।

## ३

## जीवन के लिए आग्रह

परन्तु आत्मिक जगत् में रहने का यह अर्थ नहीं है कि हम इस संसार की वास्तविकताओं के प्रति उदासीन हो जाएं। भारतीय विचारक अनेक बार

इस सामान्य प्रलोभन के शिकार होते रहे हैं कि आत्मा ही असली वस्तु है और जीवन एक निरर्थक भ्रम है और मनुष्य के वाह्य जीवन और समाज में सुधार के लिए किए गए सब प्रयत्न मूर्खता-मात्र हैं। बहुधा उस निरुत्साह ज्ञानी मनुष्य के आदर्श की प्रशंसा की जाती रही है, जो इस संसार की सारी गतिविधि का परित्याग कर देता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत ऐसे मृतक व्यक्तियों की संस्कृति का रंगमंच बन गया है, जो उस पृथ्वी पर चलते हैं, जिसपर भूतों का निवास है। जो कोई अपने-आपको संसार की गतिविधियों से पृथक् मानता है और जो इस संसार के दुःखों के प्रति असंवेदनशील है, वह सच्चा ज्ञानी नहीं हो सकता। शून्य में धर्म का आचरण कर पाना असम्भव है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि सामान्यतया नाम-रूपमय जगत् में अच्छाई के लिए एक नई शक्ति के रूप में प्रकट होती है। आध्यात्मिक मनुष्य इस संसार की वास्तविकताओं से मुंह नहीं मोड़ लेता, अपितु इस संसार में अधिक अच्छी सामग्री और आध्यात्मिक परिस्थितियां उत्पन्न करने के एकमात्र उद्देश्य से कार्य करता है। कारण यह है कि आध्यात्मिक जीवन प्राकृतिक जीवन में ही जन्म लेता है। कवि होने के कारण रवीन्द्रनाथ ने दृश्य जगत् का उपयोग अदृश्य जगत् की छाया दिखाने के लिए साधन के रूप में किया है। वे ऐहिक जगत् को शाश्वत के प्रकाश से आलोकित करते हैं। जब उनकी आत्मा इस भौतिक जगत् में संचरण करती है, तो यह पारदर्शक बन जाता है।

यह संसार कोई जाल या फंदा नहीं है और न इसकी अच्छाई भ्रम ही है। वे आत्मविकास के लिए सुअवसर और मोक्ष के लिए मार्ग हैं। यह वह महान परम्परा है, जो उपनिषदों के ऋषियों और गीता के रचयिता से चली आ रही है। वे जीवन में आनन्द अनुभव करते हैं। कारण यह है कि जब स्वयं परमात्मा ने सृष्टि का बन्धन स्वीकार किया है, तो हम इस संसार के बन्धन को क्यों स्वीकार न करें? यदि हमें यह देह-रूपी गरम वस्त्र पहना दिया गया है, तो इसके लिए हमें शिकायत करने की आवश्यकता नहीं है। मानवीय सम्बन्ध आध्यात्मिक जीवन के मुख्य स्रोत हैं। परमात्मा आकाश

में बैठा कोई सुल्तान नहीं है, अपितु वह सबके अन्दर रमा हुआ है और सबसे ऊपर है। हमारी पूजा के जो भी सच्चे लक्ष्य हैं, उन सबमें हम उसकी ही पूजा करते हैं; और जब भी हमारा प्रेम सच्चा होता है, तब हम उसीसे प्रेम कर रहे होते हैं। उस स्त्री में, जो भली है, हम उस परमात्मा को अनुभव करते हैं; उस पुरुष में, जो सच्चा है, हम उस परमात्मा को जान पाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'मनुष्य का धर्म' विषय पर (१६३१ में) दिए गए हिब्बर्ट व्याख्यानों में कहा था कि हमें अपने हृदय में भगवान की उपस्थिति को अनुभव करना चाहिए।

विश्व के महान पुरुष संसार के दुःखों के प्रति संवेदनशील रहते हुए इस संसार में कार्य करते हैं। जब बुद्ध मैत्री का प्रचार करते हैं और गीता सबके प्रति स्नेह का उपदेश देती है, तो उसका अर्थ यही है कि हम दूसरे लोगों को केवल प्रेम के द्वारा समझ सकते हैं। जीवन को एक बुराई समझना और संसार को एक भ्रम मानकर चलना बिलकुल कृतघ्नता है। अपने नाटक 'संन्यासी' में रवीन्द्रनाथ ने यह दिखाया है कि क्रुद्ध प्रकृति किस प्रकार उस संन्यासी से बदला लेती है, जिसने मानवीय इच्छाओं और प्रेम के बन्धनों को काटकर प्रकृति पर विजय पाने की चेष्टा की थी। उसने अपने-आपको संसार से पृथक् करके संसार का सही ज्ञान पाने का यत्न किया था। एक छोटी-सी लड़की उसे इस शून्यमनस्कता के क्षेत्र से वापस जीवन के रंगमंच पर खींच लाती है। कोई भी तपस्या कभी इतनी महान नहीं हो सकती कि वह सजीव सौन्दर्य का दमन कर सके। संन्यासी के आन्तरिकतम रक्षा-व्यूह सौन्दर्य के हर्षावेश के सम्मुख टूट गए और कोलाहलपूर्ण जीवन ने उसे द्वार खोल डालने को विवश कर दिया। संन्यासी ने जाना कि "महान क्षुद्र के अन्दर, असीम रूप की सीमाओं के अन्दर और आत्मा की शाश्वत मुक्ति प्रेम के अन्दर प्राप्त होती है।" हमें स्वर्ग को पृथ्वी पर खींच लाना होगा, शाश्वतता को एक घड़ी में बांध देना होगा और परमात्मा को इस संसार में ही प्राप्त करना होगा। संन्यासी लोग उन तोड़े हुए फूलों की तरह हैं, जो गुलदस्तों में सजे होते हैं। वे कुछ देर तक तो देखने में सुन्दर लगते हैं,

परन्तु शीघ्र ही मुरझा जाते हैं, क्योंकि उन्हें मिट्टी से पोषण नहीं मिल रहा होता। सुदृढ़ और बद्धमूल होने के लिए मनुष्य को जीवन से पोषण प्राप्त करने को उद्यत रहना चाहिए। तपस्या चाहे व्यक्ति के विकास के लिए कितनी ही आवश्यक क्यों न हो, किन्तु उसका केवल उस पोषण को अस्वीकार कर देने के साथ घपला नहीं किया जाना चाहिए, जिसके द्वारा विकास में सहायता मिलती है। सन्त लोग धनी लोगों के साथ बैठकर भोजन करने से इन्कार नहीं करते ; और न वे बहुमूल्य प्रलेपों की सुगंध पर ही कोई एतराज़ करते हैं।

यह सोचना मूर्खता है कि परमात्मा हमारे दुःखों और कष्टों से, हमारी वेदनाओं और उपवासों से प्रसन्न होता है और उन लोगों से प्रेम करता है, जो अपने-आपको अधिक से अधिक कष्ट देते हैं। जीवन एक महान वरदान है और जो लोग इससे प्रेम नहीं करते, वे इसे पाने के योग्य नहीं हैं। जो लोग अपनी आत्माओं को बरबाद कर डालते हैं और उसे शान्ति का नाम देते हैं, उन्हें अपने इस काम के लिए कम से कम रवीन्द्रनाथ ठाकुर का समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता।

जीवन को अस्वीकार करने के लिए मनुष्य को किसी मठ में प्रवेश करने या संन्यासी बनने की आवश्यकता नहीं है। हममें से अनेक लोग अपने-आपको वर्जनों और निषेधों से आवृत करके भी जीवन को अस्वीकार कर देते हैं। हिन्दू विचारधारा के मूल विचार की व्याख्या करते हुए रवीन्द्र जीवन की निष्ठायुक्त स्वीकृति पर बल देते हैं। हमें जीवन को एक अभियान के रूप में समझना चाहिए और इसकी सम्भावनाओं को पूरी तरह पनपने का अवसर देना चाहिए।

धर्म हमसे अनेक बोलियों में बात करता है। इसके विविध रंग-रूप हैं, फिर भी इसकी सच्ची आवाज़ एक ही है और वह है मानवीय दया और करुणा की, अनुकम्पा की, धैर्य-युक्त प्रेम की आवाज़ ; और हम सब उस आवाज़ को अवश्य ही सुन सकते हैं। स्वभावतः कोई भी संवेदनशील आत्मा उस समाज-व्यवस्था से अवश्य ही क्षुब्ध होगी, जो एक युग के अन्त

पर और दूसरे युग के आदि पर विद्यमान होती है। हम कहते हैं कि रूस या स्पेन में क्रान्ति हुई; परन्तु हमारे देश में भी एक क्रान्ति हो रही है। हमारे यहां भी गिलोटिनें (अपराधी का गला काटने की मशीन) हैं और हमारे अपने वध्य (शिकार) हैं; यद्यपि इतना अवश्य है कि हमारे यहाँ जो लोग शिकार बनते हैं, वे मरने के बाद भी अपना सिर अपने कन्धों पर लिए घूमते फिरते हैं। हम लोग केवल चलते-बोलते भूत बन गए हैं। हमारी निष्प्रभ पीतिमा और गहराई के अभाव के कारण, जिसे कि हम प्रसाधनों और चेष्टाओं द्वारा छिपाने की कोशिश करते हैं, हमारे जीवन चौरंगी की दूकानों की खिड़कियों में सजाकर रखी गई वस्त्रधारिणी मूर्तियों की याद दिला देते हैं।

हमारे गहनतम आवेश समाज द्वारा थोपी गई शर्तों द्वारा पतित बना दिए जाते हैं। इसके साथ उस दयनीय दरिद्रता और अज्ञान पर और ध्यान दीजिए, जिसमें अनेक व्यक्ति जीवन-यापन करते हैं। यदि वे कुछ संवेदनशील स्वभाव के हों, तो उन्हें अनेक विक्षुब्ध रात्रियां चिन्ताग्रस्त बितानी पड़ती हैं और उनके लम्बे नीरस दिन संघर्ष में बीतते हैं; और इस प्रकार वे वेदना की टीस और कटुता की स्मृतियों द्वारा मानो समय को नापते जाते हैं। जब आत्महत्या के धुंधले विचार उनके अतिसंकुल मस्तिष्कों में से गुज़रते हैं, तो वे छत की ओर देखते हैं और सिगरेट पीने लगते हैं। रवीन्द्रनाथ की सहानुभूति इस प्रचलित दृष्टिकोण के साथ नहीं है कि समाज-सेवा केवल उन संगठनों का सदस्य बन जाने में है, जो धूम्रपान को बन्द करना चाहते हैं या सन्तति-निरोध का प्रचार करते हैं। समाज-सेवा इस बात में है कि लोगों की सहायता पूरी सप्राणता के साथ जीने में की जाए।

कवि के रूप में रवीन्द्र संगठन से घृणा करते हैं और उनका विश्वास है कि हर मनुष्य को अपने ढंग से अपना जीवन-यापन करना चाहिए। वे समूह के अत्याचार के विरुद्ध चल रहे व्यक्ति के युगव्यापी संघर्ष में व्यक्ति के समर्थक हैं। समूह का अत्याचार व्यक्ति को कुचल देता है। जो

व्यक्ति स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा होता है, उसके भाग्य में गालियां और निन्दा, अत्याचार और घोर एकाकीपन रहता है। रवीन्द्रनाथ दुःख और कष्ट के कवि हैं। मनुष्य के प्रयत्न की करुणता, छायाओं में डूबे हुए जीवन की कटुता, नारियों के जीवन के अवसाद और एकाकीपन के रवीन्द्रनाथ से बढ़कर द्रवित प्रेक्षक कम ही मिलेंगे। इस श्रोतृ-समुदाय के सम्मुख उन अनगिनत उदाहरणों का उल्लेख करना अनावश्यक है, जिनमें कि कवि ने सामान्य दशाओं में अन्तर्निहित वेदना को अनावृत किया है।

जितने भी मानवीय सम्बन्ध हैं, उनमें सबसे पवित्र प्रेम है; और हमारे शास्त्र चाहे जो कुछ क्यों न कहते रहे हों, परन्तु हमारा व्यवहार अनैतिक है, क्योंकि यह केवल एक ही लिंग के व्यक्तियों से आत्मसंयम और आत्मबलिदान की चारुता की अपेक्षा रखता है। जब तक हमारी नारियां केवल दासी और अनुशासनहीन पुरुषों का खिलौना-मात्र समझी जाती रहेंगी, तब तक हमारी सामाजिक व्यवस्था दूषित बनी रहेगी। यह रूढ़ि कि स्त्री का सबसे बड़ा धर्म सतीत्व और पुरुष की वशवर्तिनी रहना है, पुरुषों द्वारा किए जानेवाले अत्याचार के लिए बिलकुल थोथा बहाना है। जो वस्तु पुरुष के लिए धर्म है, वही स्त्री के लिए भी धर्म है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हममें से ऐसे अनेक लोग हैं, जो ऐसे नितान्त स्वेच्छाचारी हैं, जो उचित-अनुचित का विवेक किए बिना अपनी वासनाओं के साधन के रूप में स्त्रियों का उपयोग करते हैं। वे नरपशु हैं, इन्द्रियों के दास हैं।

शरीर आत्मा का मन्दिर है, आध्यात्मिक विकास का उपकरण। शरीर को अथवा शरीर के किसी अंग को गंदा या दूषित समझना अधर्म है। शरीर को तुच्छ और अशोभन समझकर व्यवहार करना भी उतना ही अधर्म है। बिना प्रेम के शारीरिक सहवास निरी वेश्यावृत्ति है। यह बात विवाह और विवाह-भिन्न, दोनों ही मामलों में सत्य है। जो स्त्री किसी ऐसे पुरुष को, जिसे वह प्रेम नहीं करती, केवल इसलिए कि वह उसका पति है, कर्तव्य समझकर अपना शरीर सौंप देती है, वह अपना उतना ही

निर्दय दुरुपयोग कर रही होती है, जितना कि वह पति, जो अपना अधिकार पाने का हठ करता है। प्रेम आध्यात्मिक और सुरुचिपूर्ण होता है। यह अन्तरात्मा और सुरुचि का विषय है, कानूनों और संहिताओं का विषय नहीं। प्रेम के बिना विवाहित जीवन दासों से मज़दूरी कराने जैसा है। धार्मिक पंडितों अथवा सामाजिक नियमों के प्रति आज्ञापालन आत्म-लिप्तता का एक रूप है; ठीक वैसे ही, जैसे कि अपने गहनतम अस्तित्व के आज्ञापालन के लिए किया जा रहा कर्म जीवन का अनिवार्य आदेश होता है। जिस प्रकार सौन्दर्य समस्वरता से उच्चतर है, सत्य सुसंगति की अपेक्षा अधिक उच्चतर है, उसी प्रकार प्रेम विधान की अपेक्षा उच्चतर है। यह अग्नि की भांति प्रत्येक वस्तु को शुद्ध कर देता है।

रवीन्द्रनाथ के नाटक 'सती' में उमा उस पुरुष को अंगीकार करने से इन्कार कर देती है, जिसे वह प्यार नहीं करती, भले ही वह उसका पति था और भले ही उसकी ओर से लोगों ने उसे कुछ भी वचन क्यों न दिए थे। जब वह जीवाजी को, जिसके साथ उसका विधिपूर्वक विवाह हुआ था, छोड़कर चल देती है और एक अन्य व्यक्ति से विवाह कर लेती है, तो वह यह कहकर सफाई देती है : "मैंने अपना शरीर तभी समर्पित किया, जबकि प्रेम ने उसे मुझे दे दिया था।" जब उसकी माता कहती है : "अपने अपवित्र हाथों से मुझे मत छू", तो वह उत्तर देती है : "मैं उतनी ही पवित्र हूं, जितनी कि तुम हो।" उसकी वाणी और गौरवपूर्ण मुद्रा से उसका पिता बहुत प्रभावित होता है और वह कहता है : "मेरी प्यारी बच्ची, मेरे पास आ जा। ये मनुष्य-निर्मित विधान केवल आडम्बर हैं, जो भगवान के आदेश की चट्टान पर लहरों की फुहारों की भांति छितरा जाते हैं।" हमारे शास्त्र-कारों और वैधानिक अभिभावकों ने इस बात को अनुभव नहीं किया कि हमारी नारियों में भी आत्मा है। उनमें भी समझे जाने की लालसा है और वे कोई ऐसा साथी चाहती हैं, जो उनके स्वप्नों और कामनाओं में हिस्सा बंटाए ; और जब कोई पुरुष और स्त्री एक-दूसरे को न केवल अपनी शक्ति या पद या सम्पत्ति समर्पित करते हैं, अपितु अपनी दुर्बलताएं, अपनी

असहायता, अपने हृदय की आवश्यकताएं भी समर्पित करते हैं, तो वे एक ऐसे प्रदेश में प्रवेश कर जाते हैं, जिसका निर्माण मानवीय हाथों के श्रम द्वारा नहीं हुआ, अपितु उनके हृदयों के प्रेम द्वारा हुआ है। उनका मिलन अनुमोदित भले ही न हो, किन्तु पवित्र अवश्य होता है।

४

## निष्कर्ष

रवीन्द्रनाथ की सब रचनाओं में तीन विशेषताएं स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं : (१) आध्यात्मिक मूल्यों की अन्तिम दशा आन्तरिक ईमानदारी और आंतरिक जीवन के संस्कार द्वारा प्राप्त की जाती हैं ; (२) केवल निषेध अथवा त्याग की व्यर्थता और जीवन के पवित्र अथवा सम्पूर्ण विकास की आवश्यकता ; और (३) सबके प्रति, यहां तक कि दीनों और पतितों के प्रति भी सुनिश्चित सहानुभूति। यह देखकर बहुत सन्तोष होता है कि एक भारतीय नेता ने जीवन के इन वास्तविक मूल्यों पर ऐसे समय बल दिया है, जबकि इतनी सारी पुरानी वस्तुएं टूट-फूटकर समाप्त हो रही हैं और हज़ारों नई वस्तुएं सामने आ रही हैं।

o o o

# अनुक्रमणिका